वैचारिकी

भारतीय विद्या मन्दिर की द्वैमासिक शोध प्रधान पत्रिका

वर दे, वीणावादिनि वर दे !
प्रिय स्वतंत्र-रव अमृत-मंत्र नव भारत में भर दे !
काट अंध-उर के बंधन-स्तर बहा जननि, ज्योतिर्मय निर्झर;
कलुष-भेद-तम हर प्रकाश भर जगमग जग कर दे!
वर दे, वीणावादिनि वर दे!

अध्यक्ष-प्रधान सम्पादक

डॉ. बिट्ठलदास मूंधड़ा

सम्पादक

डॉ. बाबूलाल शर्मा

प्रबंध सम्पादक

शंकरलाल सोमानी

ISSN 0975-6531

वैचारिकी

भाग : 37 अंक : 4

धर्म-दर्शन-विज्ञान, साहित्य-लोकसाहित्य, इतिहास-पुरातत्व, कला-लोककला

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से मान्यता प्राप्त

जुलाई-अगस्त, 2021 ईस्वी ✷ आषाढ़ कृष्ण 7, वि. सं. 2078 से भाद्रपद कृष्ण 9, 2078 वि. सं. ✷ ₹ 50/-

अनुक्रम

- **अध्यक्षीय** 3
- **सम्पादकीय** 5
- **गांधी का अध्यात्म** — रमेश थानवी 7
- **पंजाब का हिन्दी भाषा-साहित्य के विकास में योगदान** — डॉ. सुनीता शर्मा 13
- **भारतीय बहुलता के परिप्रेक्ष्य में पूर्वोत्तर की भाषाएं** — प्रो. हितेन्द्र कुमार मिश्र 24
- **हिन्दी भाषा-साहित्य की समृद्धि में दक्षिण का योगदान** — डॉ. ए. सन्यासि राव 30
- **राजस्थान की हिन्दी कहानी : एक परिचय** — वन्दना शर्मा 34
- **खानखाना एक रामचन्द्र जू के तीर सों** — प्रो. हरीश कुमार शर्मा 39
- **मीराबाई और तेलुगु की कवयित्री मोल्ला** — डॉ. एम. अंजनेलू 46
- **महाकाव्यों के धार्मिक-सामाजिक संदर्भों में संगीत-नाट्य** — डॉ. वन्दना चौबे 50
- **चौहानों के शौर्य का प्रतीक : तारागढ़** — डॉ. उर्मिला शर्मा 55
- **देलवाड़ा स्थित जिनालयों का शिल्प सौन्दर्य** — डॉ. मीना बया 58
- **झालावाड़ की अज्ञात स्थापत्य धरोहर** — ललित शर्मा 61
- **राजस्थान की ऋण प्रणाली में कतिपय विवाद एवं निर्णय (18वीं 19वीं शताब्दी)** — डॉ. कुलवन्त सिंह शेखावत 64
- **शिमला क्षेत्र के मेले एवं त्योहारों का सांस्कृतिक अनुशीलन** — ममता कुमारी 67
- **हल्बा जनजाति की सांस्कृतिक एवं सामाजिक परिस्थितियां** — सुरेश कुमार 75
- **गढ़वाली लोकगीतों की भाव सम्पदा** — प्रो. कुसुम डोभाल-डॉ. गुड्डी चमोली 80
- **पाठक-मंच** 84

  शिव स्तुति का 'रुद्र मंत्र' (गिरीश चौबे), **धर्म एवं कला का उद्भव एवं अंर्तसम्बन्ध** (डॉ. ए.एल. श्रीवास्तव), **जातीय पहचान और धर्मान्तरण** (डॉ. लक्ष्मी नारायण मित्तल), **शाहजहाँ की कैद का कारण ताजमहल ?** (राजकिशोर शर्मा 'राजे'), **खुश रहने का नुस्खा** (जितेन्द्रनाथ जौहरी)
- **प्रतिस्वर** 91

- ■ प्रकाशित सामग्री के उपयोग हेतु लेखक-प्रकाशक की अनुमति आवश्यक।
- ■ प्रकाशित लेखादि में अभिव्यक्त विचारों से प्रकाशक-सम्पादक का सहमत होना आवश्यक नहीं है।
- ■ समस्त विवादों के लिए न्यायालय क्षेत्र कोलकाता।

कार्यालय

भारतीय विद्या मंदिर
12/1, नेली सेनगुप्ता सरणी
कोलकाता-700 087
दूरभाष : 033-71001614
मो. : 09830559364
ई-मेल : bvm.vaicharika@gmail.com
Website : www.bharatiyavidyamandir.org

सदस्यता शुल्क

वार्षिक 300/- रुपये

द्वैवार्षिक 600/- रुपये

भुगतान

Payee's Name:
BHARATIYA VIDYA MANDIR
Current A/c No. : 32030320176
Bank : STATE BANK OF INDIA
Branch: New Market
IFSC Code No. : SBIN0004662

अध्यक्षीय

2021 के प्रारंभ से ही हम काफी आश्वस्त होने लगे थे कि कोविड-19 की भयानक त्रासदी से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होने लगा है, क्योंकि कोरोना संक्रमितों की संख्या घटने लगी थी और हमारे देश के वैज्ञानिकों ने दुनिया की सबसे सुरक्षित और भरोसेमन्द वैक्सीन का आविष्कार कर दिया था। टीकाकरण भी पहले, दूसरे चरण के बाद तीसरे चरण में पहुँच गया था। परन्तु मार्च में कोरोना की दूसरी लहर ने फिर गत वर्ष का वही मंजर याद दिला दिया है जिसमें कोरोना के डर से चारों ओर दहशत, लोकडाउन, वीरान सड़कें, घरों में कैद बेबस जिन्दगी, सड़कों पर भूखे प्यासे प्रवासी मजदूर, रोजाना मौतों का सिलसिला।

इतिहास याद दिला रहा है 1918 को जब स्पैनिश फ्लू ने उस समय पूरी दुनिया में लगभग दस करोड़ लोगों को मौत की नीन्द सुला दिया था। हमारे देश की पाँच प्रतिशत (करीब डेढ करोड़) आबादी इससे खत्म हो गई थी। कोरोना की दूसरी लहर, जो अधिक मारक है, से मन भयभीत है। इसके लिए हमारी घोर लापरवाही भी जिम्मेदार है। वस्तुतः इसकी रोकथाम के जो उपाय बताए गए हैं उन्हें हमें गम्भीरता से अपनी जीवन शैली में अपनाए रखना जरूरी है, नहीं तो सावधानी हटी कि दुर्घटना घटी। लेकिन देख ही रहे हैं किस तरह की सावधानियाँ रख रहें हैं हम। सरकारें दिशा निर्देश जारी करती हैं कि मास्क लगाए रखें, परस्पर दो गज की दूरी रखें, बार-बार साबुन से हाथ धोएं आदि परंतु सरकारें चलाने वाले कई नेता ही बिना मास्क लगाए, हजारों की भीड़ इकट्ठी कर रहे हैं, रेलियाँ कर रहे हैं। आम आदमी भी कम नहीं हैं, बहुत सारे तो बिना मास्क लगाए सड़कों पर, वाहनों में हैं, तो कितनों ने मास्क से मुँह नाक नहीं ढँक कर उसे कानों में ठुड्डी के नीचे लटका रखा है। वस्तुतः ज्ञान सबको है कि क्या करना है, परंतु स्वार्थ-सुविधा वश वह ज्ञान हमसे दूर है, तब तदनुसार आचरण कहाँ? चिन्ता है, एक-दूसरे से मिलने की छटपटाहट है, कुछ तो बिना मिले ही हमेशा के लिए चले गए, पर विवशता है। इसी बीच कट्टर धार्मिकता के उन्माद का आतंक है, मनुष्य की करतूतों से प्रकृति क्षुब्ध है, भयंकर विध्वंसक आयुधों से लैस राजनीतिक उन्माद छाया है, गुण्डे, बदमाश बेखौफ हैं, जीवन कठिन होता जा रहा है। चिंतित मन में मुझे अपने प्रिय कवि जयशंकर प्रसाद की अमर कृति **'कामायनी'** की कई पंक्तियाँ बराबर याद आ रही हैं-

ो मन की।
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की।

X X X

अरी व्याधि की सूच धारिणी
अरी आधि मधुमय अभिशाप। ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है
हृदय-गगन में धूमकेतु सी इच्छा क्यों पूरी ह
पुण्य सृष्टि में सुन्दर पाप।

X X X

विश्व विपुल आतंक त्रस्त है
अपने ताप विषम से।
फैल रही है घनी नीलिमा
अन्तर्दाह परम से।

जैसे क्रोध से सम्मोहित होने से बुद्धि नष्ट होकर विनाश हो जाता है (क्रोधा भावित सम्मोहकः बुद्धिनाशो विनष्यति) वैसे ही स्वार्थान्धता तथा धन के मद से, ज्ञानी होने पर भी धनाढ्य की अवनति हो जाती है। ऐसी अवस्थाओं में व्यक्ति स्वयं के जीवन को तो कष्टप्रद बनाता ही है, दूसरों के जीवन को भी खतरे में डाल देता है। कोरोना के परिप्रेक्ष्य में चीन देश ऐसा ही उदाहरण है जिसने क्रोध, स्वार्थ व धनमद के वशीभूत हो स्वयं सहित पूरी मानवता को खतरे में डाला है। पर कहें किस से, आदमी प्रकृति का अंधाधुंध दोहन कर उसे भोगने में लगा है, अपने ऐशो-आराम के लिए। हम भोगवादी देव बन बैठे हैं--

स्वयं देव थे हम सब, तो फिर
क्यों न विशृंखल होती सृष्टि।
अरे भयानक हुई इसी से
कड़ी आपदाओं की वृष्टि।

कोरोना जैसी भयंकर आपदा, मनुष्य की विकट महत्त्वाकांक्षा को पूरा करने के प्रयास का परिणाम है, और विडम्बना यह है कि वह इस प्रयास को मानवता के हित में सामंजस्य के लिए बता कर करता है।

सामंजस्य चले करने ये
किन्तु विषमता फैलाते हैं।
मूल स्वत्व कुछ और बताते
इच्छाओं को झुठलाते हैं।

हम अपने लिए सुखों की खोज में लगे रहते हैं, परंतु हम अकेले सुखी नहीं हो सकते, जब तक कि दूसरे भी सुखी नहीं हों......

औरों को हँसते देखो मनु
हँसो और सुख पाओ।

शेष पृष्ठ 29 पर ......

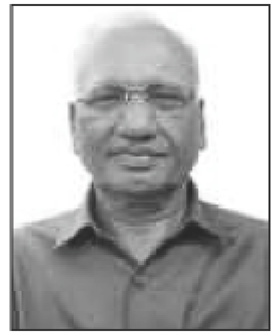

संपादकीय

15 अगस्त 2021, 75वें स्वतंत्रता दिवस अर्थात **स्वतंत्रता दिवस के अमृत महोत्सव** पर वंदेमातरम, हार्दिक शुभकामनाएं। हम सौभाग्यशाली हैं कि हम एक स्वतंत्र और प्रजातांत्रिक देश में हैं। गत वर्ष से चल रहे जीवन के कठिन दौर में यह विशेष रूप से अनुभव हुआ कि हम एक स्वतंत्र और प्रजातांत्रिक देश में हैं। 2019 के अंतिम माह में चीनी वायरस कोरोना अथवा कोविड-19 का पता चला। चीन, जिसे केवल और केवल अपने स्वार्थ से मतलब है, मनुष्य सहित सभी जीव-जंतु जिसके लिए उपकरण मात्र हैं, वस्तु मात्र हैं, चाहे कितने ही लोग मर जायें, उसका विश्व को हड़प जाने का उद्देश्य पूरा होना चाहिए? देश में कोरोना वायरस का पहला मरीज 30 जनवरी 2020 को केरल में मिला जब चीन में कोरोना महामारी फैलने के बाद चीन के शहर वुहान से केरल लौटी एक छात्रा को पॉजिटिव पाया गया था। फिर पूरा देश कोरोना की गिरफ्त में आ गया। इस संकट से उबरने के लिए 24 मार्च को रात 8 बजे घोषणा हुई-- आज से पूरे देश में संपूर्ण लॉकडाउन लगाया जा रहा है। लोगों के घरों से निकलने पर पूरी तरह पाबंदी लगाई जा रही है। आपको यह भूल जाना होगा कि घर से बाहर निकलना क्या होता है।' इस तरह क्रमशः अगले तीन माह के लिए पूरा देश लॉकडाउन हो गया। संयोगवश मैं एक मकान के दूसरे तल के फ्लैट में लॉकडाउन हुआ, फ्लैट में सब साजोसामान पर मैं अकेला और फिर 3 माह का एकदम एकांत। शुक्र है कि फ्लैट में किताबें थी। पहली बार यह विशेष रूप से पता चला कि किताबें कितनी बड़ी साथी होती हैं, नहीं तो लॉकडाउन के उस उबाउ समय को बिताना कितना मुश्किल हो जाता। कई उपन्यास और अन्य पुस्तकें पढ़ गया। इसी दौरान अमृतलाल नागर का उपन्यास 'करवट' पढ़ा जिसमें देश में ब्रिटिश शासन और लखनऊ में नवाब वाजिदअली शाह (1847-1856 ई.) और उसके बाद का समय है। इसमें 20वीं शताब्दी के दूसरे दशक में फैली महामारी का जिक्र भी है, जिसमें देश में करोड़ों लोग कालकवलित हो गये थे, मृतकों की संख्या इतनी बड़ी संख्या इसलिए भी हुई थी कि उस समय हम पराधीन थे और शासन में राजतंत्र था। इस तंत्र में राजाओं-नवाबों को अपनी प्रजा की सुविधा और उसके दुख-सुख से कोई मतलब नहीं था, उन्हें मतलब था तो केवल अपनी सुविधाओं तथा भोग-विलास के लिए प्रजा से टैक्स वसूल करने से। उपन्यास में नागरजी ने लिखते हैं कि लोगों को तेज बुखार होती, बगल में गांठ

उठती और मर जाती। गंदगी से पटी पड़ी गलियों में लाशें पड़ी थीं जिन्हें कोई उठाने वाला नहीं था, मगर नवाब अपने राग-रंग में मस्त था। इसीलिए मैं फिर लिख रहा हूं, हम सौभाग्यशाली हैं कि हम स्वतंत्र और प्रजातांत्रिक व्यवस्था में जीवनयापन कर रहे हैं जिसमें शासन की जनता के प्रति जिम्मेदारी है। अब तक देश में कोरोना से मरने वालों की संख्या 2 लाख से कुछ अधिक हुई है, यदि राजतंत्र होता तो यह संख्या कितनी होती, दिल दहल जाता है। अतः 75 वर्ष पूर्व यह जो तूफान से कश्ती निकालकर लाई गयी थी, उसे संभालकर रखना है। इस स्वतंत्रता की, प्रजातंत्र की हिफाजत में हमें हर समय लगे रहना है।

लॉकडाउन में कई तरह के अनुभव हुए। एकांत, बस मैं और फ्लैट। कलेंडर में तारीखें और वार स्थिर हो गये थे। सूरज के उगने पर पता चलता कि अगला दिन शुरू हो गया। सुबह नित्य कर्म से निवृत्त हो छत पर जाता, पहली बार सूरज के पूर्ण प्रताप व वैभव के दर्शन होने लगे, व्यायाम-प्राणायाम के बाद लॉकडाउन में एक और आयाम जुड़ा-- ध्यान और मौन, यह उपलब्धि रही। लॉकडाउन में दर्पण में पहली बार स्वयं को ठीक से देखा अर्थात वेद व्यासजी के अनुसार-- संसार की सर्वश्रेष्ठ कृति मनुष्य को ठीक से देखा, स्वार्थांध, प्रकृति के दुश्मन, विध्वंसक, विकास की विलासपूर्ण विनाशक अवधारणा, धर्म के नाम पर खून की नदियां... और मैं संसार की सर्वश्रेष्ठ कृति मनुष्य।

सोना-उठना और पहली बार हुआ कि चाय-खाना बनाना, कपड़े धोना, अच्छा ही रहा इस सबमें अच्छा खासा समय निकल जाता। पुस्तकों के बाद दो और साथी-- मोबाइल और टीवी। टीवी पर खबरों में कोरोना के सिवाय कोई खबर नहीं, लेकिन यह उपलब्धि रही कि दूरदर्शन के पुराने सीरियल देखने को मिले, अब तो वह जमाना गया संजीदा और स्तरीय सीरियलों का? शाम को छत पर घुमने जाता, छत पर रखे पेड़-पौधों को पानी देता। सुना कि प्रदूषण खत्म होने से सहारनपुर और जलंधर से हिमालय दिखने लगा था। छत पर से बहुत दूर तक दिखाई दे रहा था, जो पहले नहीं हुआ था। प्रदूषण साफ होने से शहर ठीक से सांस लेने लगा था। कुछ दूर स्थित मंदिर में शंख बजता और पीछे की गगनचुम्बी बिल्डिंग की खिड़कियों में रोशनी होने लगती तो समझ जाता शाम हो गई। पहली बार चांद के संपूर्ण सौंदर्य के दर्शन हुए।

गली के दोनों तरफ मकानों की पंक्तियां। अब गली सिर्फ गली रह गयी थी जो पहले सिर्फ रात में ही सिर्फ गली होती थी। रात में भी गली को सिर्फ गली न रहने देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले कुत्ते भी न जाने कहां चले गये थे। कव्वे भी जो सारे दिन कांव-कांव करते रहते थे, शुरू-शुरू में खाने की तलाश में आक्रामक तक हुए, लेकिन फिर वे भी पस्त होकर कहीं पड़ गये। एक दिन फ्लैट के बरामदे में खड़ा था और सिर्फ गली रह गई गली को देख रहा था। अचानक गली सिर्फ गली नहीं रह गई क्योंकि तीन-चार युवक गली में मस्ती करते हुए निकले पड़े थे, तभी गली के मोड़ से पुलिस की गश्ती गाड़ी आ गयी। पुलिस ने युवकों को रोककर उन्हें अपने-अपने घर जाने को कहा पर वे बहस करने लगे। पुलिस ने डंडे चला दिये। गली में कितने ही दिनों बाद पहली बार कोई रचनात्मक कार्य हुआ था। घरों के बरामदों में लोग निकल आये। डंडे लगने पर युवक समझ गये। इसी समय लॉकअप और लॉकडाउन का अंतर समझ में आया। लॉकअप में अंदर जाने पर डंडे बरसते हैं और लॉकडाउन में बाहर निकलने पर डंडे बरसते हैं। लॉकडाउन को और सघन बना दिया था इसी बीच आये 160 किमी. प्रतिघंटा की रफ्तार वाले तूफान ने। गलियों में भयंकर आवाज करता प्रबल वायु, पेड़-पौधों को मथ रहा था और मैं फ्लैट में भयभीत चुपचाप। डेढ़ घंटे के संत्रास के बाद तूफान रुका तो सांस में सांस आई। इससे पहले मेरा तूफान से साबका नहीं पड़ा था।

शेष पृष्ठ 33 पर ......

गांधी का अध्यात्म

रमेश थानवी

गांधी महात्मा कहलाये। ऐसे महात्मा जिनको कभी भगवा वस्त्र नहीं पहनना पड़ा। जो कभी किसी कंदरा में जाकर ध्यान करने भी नहीं बैठे और जिन्होंने कभी योग अथवा हठ योग की भी साधना नहीं की। जो कभी मंदिर भी नहीं गये। न उन्होंने किसी पूजा, आरती और अभिषेक में भाग लिया। न उन्होंने गृहस्थी का त्याग किया। फिर भी उनके नाम से यह विशेषण अनायास ही जुड़ गया था। लोकमानस ने उनका यही स्वरूप देखा था। लोक ने उनको इसी विशेषण से विभूषित करना आवश्यक समझा था।

लोक-मान्य होना किसी भी व्यक्ति के लिए बड़ा सम्मान होता है। असली सम्मान। राज-मान्य इसके विपरीत एक घटिया अवधारणा है। वे बाद में राष्ट्रपिता कहलाए। राष्ट्रपिता का विशेषण उनको सुभाष चन्द्र बोस ने दिया था; मगर महात्मा के नाम से वे सदा जीवन में आदरपूर्वक जाने जाते रहे।

बापू बैरिस्टर थे; विलायत में पढ़े थे और वकालत से अपनी रोटी कमाने की चाहत से दक्षिण अफ्रीका में जा बसे थे। उनका मन कभी अपने पेशे में रहा नहीं। वे प्रारंभ से ही किसी और मार्ग की तलाश में रहे। उनको तलाश रही किसी और तत्व की। वह तत्व अंततः उनको ईश्वर में ही दिखा। प्रारंभिक दिनों में उन्होंने कहा **ईश्वर सत्य है,** मगर अंतिम दिनों में वे इस निष्कर्ष पर पहुँच गये कि **सत्य ही ईश्वर** है।

यह निष्कर्ष सर्वथा वेद सम्मत था और बापू के अध्यात्म का आधार स्तंभ था। एक प्रसिद्ध वैदिक उक्ति है- **सत्यान् नास्ति परोधर्मः।**

भारत आने पर उनको **सत्य** के दर्शन **लोक-जीवन** में हुए। इस लोक को उन्होंने सबसे पहली प्राथमिकता समझा। वे सारे भारत की यात्रा पर निकल पड़े, **थर्ड क्लास** के डिब्बे में बैठ कर। पूरे देश को आँखों में भर लेना, उन तमाम दुखों को जिनको भारत का जन-जन भोग रहा था; उन्हें आत्मसात कर लेना, यही उनका **पहला सरोकार** था। धीरेन्द्र मजूमदार इसे **लोक-गंगा का स्नान** कहते थे। इस लोक दर्शन अथवा लोक गंगा के स्नान ने बापू को भिगो दिया था। सारे देश की आँखों देखी व्यथा-कथा को बापू ने दिल में उतार लिया। बापू को आजादी का रस्ता दीख गया। **लोक** बापू का अध्यात्म बन गया था। वे नयी शक्ति के साथ अपने रास्ते पर चल पड़े थे। निडर बन कर, लंबे-लंबे डग भरते हुए चल पड़े थे।

करोड़ों लोगों को अपने दिल में साथ ले कर। बापू के लिए यह देश-दर्शन पूरी करुणा के साथ भारतवासियों के विभिन्न दुखों के अध्ययन की यात्रा हो गयी थी। यह यात्रा उनकी अन्वेषण की यात्रा थी। लोक के अनुसंधान की यात्रा थी। उन्होंने देखा था कि पूरा देश किस तरह से गुलामी की बेड़ियों में जकड़ा हुआ है और बहुत सारे दुखों को एक साथ जीने को अभिशप्त है। इस अध्ययन से उनका मार्ग प्रशस्त हो गया था।

ईश्वर कृष्ण की **सांख्य कारिका** कहती है कि तीनों दुःखों के दर्शन से ही ज्ञान की जिज्ञासा जागती है- **दुःखत्रय अभिघाताज् जिज्ञासा तद् अभिघातके हेतो। दृष्टे सा अपार्था चेन्न ऐकान्त अत्यन्त अतो अभावत्।।**

उधर **बुद्ध** भी कहते हैं कि सब कुछ दुःख है। समकालीन साहित्य में झांकें तो **अज्ञेय** भी लिखते हैं कि **दुःख हमको मांजता** है। गुजराती **कवि न्हानालाल** ने एक गुजराती कविता में लिखा था--

वह तो सांसारिक साधु है,
गृहस्थ होकर भी
संन्यास धार बैठा है!
निरंतर दुःख को न्योत देता,
एशिया के उन महायोगीन्द्र ईसा का
वह अनुज है छोटा-सा।
परपीड़ा देख प्रज्वलित होता
महा वैष्णवों का वह वंशज है।
श्रीनगर का मानो **नरसिंह** मेहता।
हिय उसके होली सुलगे,
जलते अंगारों-से नेत्र,
मुख-मंडल पर विषाद-रेख।
देश की चिंता उसे जलाती,
सूखी जाती है देहलता।

लोक-दर्शन करते हुए बापू को एक मार्गदर्शक लोक-कवि **नरसी मेहता** मिल गये थे। नरसी बापू के प्रेरणा पुरुष बन गये थे। उनको नरसी मेहता का भजन **वैष्णव जन तो तेने कहिए, जे पीर पराईज जाणे रे...,** रास आ गया। उनके मन को भा गया और वे इसी एक भजन के सार रूप में एक बड़े **आध्यात्मिक सत्य** को देखते रहते। नरसी के इस भजन के साथ ही वे उनके संगी-साथी हो गये। **नरसी** का एक दूसरा भजन उनके मन को फिर भा गया-- **एकज दे चिंनगारी महानल...।** पहले भजनमें बापू नरसी की करुणा से आप्लावित हुए थे और दूसरे भजन ने उनके मन में सत्य को अन्वेषित करने और पा लेने की चाहत को और प्रबल कर दिया। यहां गौर करने और समझने की बात यह है कि सत्य तक पहुँच कर उसे पा लेने की चाहत बड़ी बात थी। जानना और पा लेना दो अलग-अलग आवश्यकताएं हैं। नरसी जिस चिनगारी की माँग कर रहे थे वह चिनगारी उसी अग्नि-तत्व का नाम था जिसे **कठोपनिषद्** में यमराज ने **नचिकेता- अग्नि** का नाम दिया। यह वही सत्य था जिसकी बापू को तलाश थी और इस सत्य के सार्वलौकिक होने में, सार्वभौमिक होने में और सार्वकालिक होने में उन्हें कोई संदेह नहीं था। कठोपनिषद् कहता है--

एकस्तथा सर्वभूतन्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।।9।। अध्याय 2, वल्ली-2

बापू का अध्यात्म लोक जीवन में बसता था। वे जैसे नरसी के निकट थे वैसे ही वे **कबीर** के करीब थे। उतने ही **नानक** के साथ थे। **लोक में बाबू का राम रमता था और जीवन के हर स्पंदन में उन्हें ईश्वर का दर्शन होता था जिसे वे सच मानते थे** जिसे अंतिम सत्य के रूप में स्वीकर करते थे। लोक में कुदरत भी साथ थी और करीम भी साथ था। बापू के लिये कुदरत का जर्रा-जर्रा बेशकीमती था और यह कहूं कि वह ईश्वर का ही पर्याय था तो भी अतिशयोक्ति नहीं होगी।

वे कहते थे कि मेरे हर श्वास-प्रश्वास में राम नाम का जप चलता रहता है। **वे राम नाम को सबसे**

बड़ी दवा मानते थे और बताते थे कि रामनाम **राम-बाण** दवा है। उन्होंने एक पुस्तक लिखी जिसका नाम ही **राम-नाम** है। इस पुस्तक में राम नाम की महिमा वैसे ही गायी गयी है जैसे कोई इन दो शब्दों का पूरा भाष्य कर रहा हो।

बापू के जीवन में अध्यात्म ने **लोक-मार्ग** से प्रवेश किया था और वे उसी **लोक** के लिए काम करते हुए अपने अध्यात्म को जीवन भर सींचते रहे। यह विलक्षण महात्मा ईश्वर को पाने के लिए जंगल में नहीं गया, इस महात्मा ने ईश्वर को पारलौकिक सत्ता नहीं माना बल्कि लोक में विचरता हुआ वह एक पारलौकिक सत्य को देखता रहा। करुणा के बिना, प्रेम के बिना, पर-पीड़ा को पूरी संवेदना के साथ समझे बिना उनको अपना ही जीवन व्यर्थ लगता था। यह पर-पीड़ा और करुणा उनकी लोक के प्रति आस्था से उपजी थी। उनका स्वधर्म लोक-जीवन को निवेदित था, परलोक को नहीं। **परहित सरिस धर्म नहीं भाई** को समझते हुए वे परपीड़ा के प्रति ज्यादा जागरूक थे और जान सके थे कि उससे बड़ा अधर्म कोई नहीं है। आज की तरह उन्होंने परपीड़क समाज रचने की कभी कल्पना भी नहीं की। उनकी प्रातःकालीन प्रार्थनाओं में हर रोज श्लोक गाया जाता था और उस पर मनन किया जाता था। वह श्लोक था :-

न त्वहं कामये राज्यम् न स्वर्ग नापुनर्भवम्।।

कामये दुःख-तप्तानम् प्राणिनाम् आर्ति-नाशनम्।।

यह आर्तिनाशनम् उनका जीवन-धर्म था, उनका अध्यात्म था। वे इसी अध्यात्म में विचरण करते हुए और **रघुपति राघव राजा राम** को गाते हुए ईश्वर तत्व के दर्शन करते रहे। वे ईश्वर तत्व को पहचानते हुए, दुःखों से तप्त लोगों का आर्तिनाशनम् करते हुए राजनीति भी करते हैं। यह राजनीति भी दुनिया के इतिहास में एक नायाब उदाहरण पेश कर गयी। उनके दर्शन में दुख को दूर करना तभी संभव था जब मनुष्य आजाद हो जाये। किसी भी तरह की बेड़ियों में न जकड़ा हुआ हो। बेड़ियाँ बुरी होती हैं और जिन-जिन लोगों ने गुलामी की जंजीरों को तोड़ने की कोशिश की है वे **स्पार्टाकस,** कांगो के **लुमुम्बा, चै-गुआरा** और **नेल्सन मंडेला** की तरह सजायाफ्ता जीवन जीते रहे हैं। बापू की करुणा और सत्याग्रह ने उनकी रजनीति को एक नया मोड़ दे दिया था। जीवन तो उनका भी कांटों अथवा अंगारों की पर चलने जैसा था, मगर वे लोक-सेवा में और देश की आजादी के लिए सत्याग्रह करने में बड़ा सुख पाते थे। उनका मार्ग प्रेम का मार्ग था। वही मार्ग जो कबीर का मार्ग था। वे कबीर के साथ थे जब कबीर ने पूछा था-**दुई जगदीश कहांते आया?** उनके लिए सारे धर्म, संप्रदाय एवं पंथ एक ही थे। अर्जुन की तरह उनका भी मोह नष्ट हो गया, उनको भी अपनी मूल-सत्ता (स्मृति) मिल गयी थी और वे भी आध्यात्मिक स्तर पर वहाँ पहुँच गये थे कि कह सकें **स्थितोऽस्मि।** बापू ऐसे ही अपने में स्थित थे। इस स्थिति ने उनको दृढ़ता दी थी और वे उद्घोष कर सके थे -- **अंग्रेजों भारत छोड़ो- क्विट इंडिया।**

इस दृढ़ता की तथा ऐसी प्रतिबद्धता की कुछ तस्वीरें तो देख लीजिए। पहली तस्वीर है कि उन्होंने जहां साबरमती आश्रम बसाया वहाँ जंगल था और उस जंगल में साँप बहुत रहते थे। आश्रम बसाने का काम जब शुरू हुआ तो बापू ने अपने सभी संगी साथियों से कहा, यहाँ सांप हमारे मेजबान हैं और अच्छा मेहमान कभी अपने मेजबान को तकलीफ नहीं देता। उन्होंने हिदायत दी थी कि कोई भी साँप को मारेगा नहीं। बल्कि एक रस्सी के फंदे में बाँध कर उनको दूर छोड़ आयेगा ताकि वे अपने लिए नई जगह चुन लें। उस आश्रम में जब रात को सांप निकलते थे तो पहरा देने वाले उनके संगी साथी यही काम करते थे कि सांप को एक फंदा पहनाकर बाँधकर बाहर छोड़ आते थे। यह जानकारी मुझे उनके अत्यन्त आत्मीय सहयोगी **काशीनाथ**

त्रिवेदी से मिली थी जो साबरमती के प्रारंभिक दिनों में यह काम कर चुके थे और जिनके साथ रहने का मुझे बार-बार अवसर मिला।

दूसरी तस्वीर देखिए - **बाबा बलंवत सिंह** शौच के लिए जंगल में गये थे और जंगल से लौटते समय एक खेत से लगभग पांच सेर माटी का एक ढेला उठा लाये और आश्रम में जहां मिट्टी से हाथ धोये जाते थे उसी स्थान पर रख दिया। बापू उधर से गुजरे तो उनको वह माटी का ढेला दीख गया और उन्होंने तुरंत ही जानकारी चाही कि माटी का यह ढेला खेतों से कौन लेकर आ गया है। उनके सामने कोई झूठ नहीं बोल सकता था, यह उनके व्यक्तित्व का करिश्मा था और उनकी तालीम थी। बलवंत सिंह जी स्वयं चले आये और उन्होंने कहा, बापू यह भूल मुझसे हुई है। बापू ने कहा कि तुम इस माटी के ढेले को उसी खेत में फेंक कर आओ जिस खेत से लाये हो। तुम्हें मुट्ठी भर माटी चाहिए थी, तुम पाँच सेर क्यों उठा लाये, यह अपरिग्रह का व्रत तुमसे कैसे भंग हुआ। भरी दुपहरी में बाबा बलवंत सिंह उसी खेत में गये और वह माटी का ढेला ससम्मान क्षमा याचना के साथ उसी खेत में रख आये। यह तथ्य मुझे बाबा बलवंत सिंह की पुस्तक **बापू की छाया** में से मिला है।

तीसरी तस्वीर देखिये - बापू पत्र लिख रहे थे। पास में से **मीरा बहन** गुजरी तो बापू ने कहा मीरा दो पत्ती नीम की तोड़ लाओ। बापू पत्र लिखते गये, मीरा एक डाली तोड़कर बापू के पास रख कर चली गयी। वे जो भी काम करते थे ऐसी तल्लीनता से करते थे कि उन्हें आसपास दूसरा कुछ दीखता नहीं था। पत्र लिखने का काम खत्म हुआ तो देखा कि मीरा एक टहनी तोड़ कर रख गयी है। मीरा को बुलाया गया और फिर पूछा- **मीरा** मैंने तो दो ही पत्ती मांगी, तू ये पूरी टहनी तोड़ कर क्यों ले आयी। तुझ से यदि अपरिग्रह का व्रत भंग हुआ है तो यह मेरा ही पाप है। मीरा बहन सकते में थी, काटो तो खून नहीं, मगर बापू को इतने भर से संतोष नहीं हुआ। शाम की प्रार्थना सभा में एक घोषणा कर दी गयी कि मीरा से अपरिग्रह का व्रत भंग हुआ है, इसलिए मैं कल उपवास करूंगा और मौन भी रखूंगा। मीरा के लिए इससे बड़ी सजा कोई नहीं हो सकती थी। लेकिन यह बापू की तालीम का तरीका था। वे अपने सहयोगियों को ऐसे ही तप से गुजारते थे, कुंदन बनाते थे और अध्यात्म से सींचते थे। कोई मीरा बहन की डायरी और उनकी अनुपम पुस्तक **द स्पिरिट्स पिलग्रिमेज** पढ़े तो ऐसी कई छवियाँ मिल सकती हैं।

उक्त तीनों तस्वीरें बताती हैं कि बापू कितने करुणावान थे। जर्रे-जर्रे में ईश्वर के वास के प्रति कितने सजग थे और कुदरत के कितने करीब रहकर सच्चे पर्यावरण प्रेमी थे। चाहे माटी हो, चाहे सांप हो, चाहे नीम की दो पत्ती हों। बापू में इन सबके प्रति समान प्रेम था और यह वही प्रेम था जिस प्रेम से परमात्मा प्रकट हुआ करता हैं। तुलसी ने कहा है-

हरि व्यापक सर्वत्र समाना,
प्रेम तें प्रकट होहिं मैं जाना।

आज कोई ऐसा राजनेता पूरी दुनिया में कहीं नहीं दिखायी देगा जो आश्रम में रहता हो और देश की आजादी के आंदोलन जैसे विराट कार्य की ब्यूह रचना करता हो और फिर भी जिसके आश्रम में सबेरे व शाम बिना नागा प्रार्थना सभाएं होती हों। बापू की प्रार्थना सभाएं सर्वधर्म प्रार्थना सभाएं होती थीं। कुरान भी था उनमें, गीता भी थी और सबसे पहले **ईशावास्य उपनिषद्** था। वहां गाया जाने वाला हर भजन पूरी उदारता के साथ सब धर्मों को समान दृष्टि से देखता था, मगर मानवता को उन सबसे ऊँचे स्थान पर रखता था। महाभारत में **महामुनि वेदव्यास** ने कहा था--

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमी।
नहि मानुषच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित।

बापू भी यह कहते थे। बापू के यहाँ आदमी बड़ा भी था और बराबर भी। न जाति भेद, न भाषा भेद और न

रंग भेद। उनकी प्रार्थना-सभाओं में **रैदास** भी गाये जाते थे। जिनका प्रसिद्ध भजन है--

जब राम नाम कहि गावेगा।
तब भेद अभेद मिटावेगा।।

यह सर्वधर्म समानत्व बापू का अध्यात्म था, मानवता की सर्वोच्च स्थापना बापू का अध्यात्म था। **वेद** कहते हैं कि **प्रजापति की सृष्टि में मनुष्य प्रजापति के निकटतम है।** बापू भी यह कहते थे।

एक पुस्तक है जो खुद बापू ने लिखी है-**हिन्दू धर्म क्या है।** यह पुस्तक नेशनल बुक ट्रस्ट से छपी है। इसमें बापू उल्लेख करते हैं कि **ईशावास्य उपनिषद्** का पहला श्लोक पूरी मानवता को हर संकट से उबारने के लिए काफी है। पहला श्लोक ही नहीं पहले श्लोक की पहली पंक्ति ही काफी है। उन्होंने लिखा है कि, कभी जलजला आ जाये और पूरी दुनिया उसमें डूब जाये अथवा कभी कोई बड़ा अग्निकांड हो जाये और उसमें सब कुछ जल जाये लेकिन **ईशावास्य उपनिषद्** के पहले श्लोक की पहली पंक्ति बच जाती है तो यह पूरी कायनात फिर उठकर खड़ी हो जायेगी। **ईशावास्य उपनिषद्** का पहला श्लोक हैं--

ईशा वास्यमिद्मसर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।1।।

इस जगत में जो कुछ है उसमें ईश्वर का वास है (जगत में सब कुछ ईश्वर का है) अतः दूसरे के धन पर गिद्ध दृष्टि डाले बिना (जो कुछ तुम्हें मिला है उसका) त्यागपूर्वक भोग करे।

बापू का अध्यात्म उनके **गीता** में प्रवेश से भी प्रारंभ होता है। बहुत रोचक बात है कि गीता के दूसरे अध्याय के दो श्लोक उनको सबसे पहले आकर्षित करते हैं और वे इतने मोहित हो जाते हैं कि पूरी गीता खोज कर पढ़ लेने से पहले उनकी जिज्ञासा शांत नहीं हुई। वे दो श्लोक हैं-

ध्यायतो विषनान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजाते कामः कामात्क्रोधोऽ-भिजायते।।2.62।।

विषयों का चिन्तन करने से विषयों में आसक्ति हो जाती है, आसक्ति से उन विषयों की कामना होती है, फिर कामना पूरी होने में विघ्न से उत्पन्न होता है।

क्रोधद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्‌बुद्धिनासो बुद्धिनाशात्प्र-णश्यति।।2.63।।

क्रोध से मूढता उत्पन्न होती है, मूढता से स्मृति में भ्रम हो जाने से बुद्धिनाश होकर पतन हो जाता है।

यह तो प्रवेश मात्र था। वे फिर गीता का अध्ययन करते हैं और उसको मथ-मथ कर उसका सार रूप संकलित करते हैं और फिर **गीता माता** के नाम से पूरी पुस्तक लिख डालते हैं। गीता से कुल बयालीस (42) श्लोक चुनते हैं और इन श्लोकों में पूरी गीता समाहित है ऐसा सोचते हैं। गीता के जिस श्लोक की फिर वे पुरजोर पैरवी करते हैं, वह है--

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मानो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।।6.5।।

आत्मा से मनुष्य आत्मा का उद्धार करे, उसकी अधोगति न करे। आत्मा ही आत्मा का बंधु है और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है।

गीता माता नाम की पुस्तक एक निधि के रूप में वे हमारे लिए छोड़ जाते हैं और ऐसा काम भी वे अपने आध्यात्मिक दुलार के वशीभूत होकर करते हैं कि कम से कम सुचिंतित परिचय एवं सरलार्थ के साथ सारे लोगों को यह मिल सके। यहाँ मैं दुलार शब्द का प्रयोग इसलिए कर रहा हूँ कि बापू अपने जीवन के हर पल और हर प्रयास में लोक-वत्सल थे। वात्सल्य उनमें कूट-कूट कर भरा था और उस वात्सल्य में भी वही प्रेम प्रकट होता था जो मैया यशोदा के मन में कभी रहा होगा अथवा कौशल्या के मन में जागा होगा, अपने लाडलों के प्रति।

बापू के अध्यात्म, उनके जीवन में उतर गया था,

अपने ही आचरण पर आधारित। न वहां पाखण्ड था और न वहाँ किसी तरह का मोह था, न कोई विकार था। शुद्ध निर्मल हृदय से सबके प्रति समान भाव रखते हुए वे जैसा व्यवहार करना चाहते थे वैसा ही करते थे। उनके जीवन में आचरण के एक सूत्र के रूप में जिन एकादश मूल्यों को पिरोया गया था उनका उल्लेख करना बहुत आवश्यक है। क्योंकि इन्हीं एकादश मूल्यों पर दृढ़ आचारण करते हुए महात्मा ने अपने जीवन में अध्यात्म को उतार था, उसका पोषण किया था और उसे पुष्ट करते हुए सच्चे आध्यात्मिक जीवन के अर्थ वे संप्रेषित कर सके थे। वे एकादश मूल्य हैं --

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असंग्रह।
शरीरश्रम, अस्वाद, सर्वत्र भयवर्जन।।
सर्वधर्म-समानत्व, स्वदेशी, स्पर्शभावना।
विनम्र व्रतनिष्ठा से ये एकादश सेव्य हैं।।

महात्मा जी का जीवन अपने आप में एक संदेश था। सनातन संदेश। उनका अध्यात्म उनके अपने अध्ययन और अन्वेषण से पुष्ट हुआ था। वे निरन्तर अध्ययन करते रहते थे और अपने समकालीन संतों से, विचारकों से एवं विद्वज्जनों से चर्चा परिचर्चा करते रहते थे। देश के हजारों विद्वज्जन उनके साथ जुड़ गये थे और अलग-अलग स्रोतों से उनको नयी-नयी रोशनी मिलती रहती थी।

अपनी जीवनी को बापू **सत्य के साथ मेरे प्रयोग** कहते हैं। यह जीवनी उनके प्रारंभिक जीवन की कथा ही है। इसके बाद का उनका जीवन घोर संघर्षमय है। इस संघर्ष में **सत्याग्रह** उनका शस्त्र था। सत्याग्रह को समझाते हुए वे हिन्द स्वराज में लिखते हैं-- "सत्याग्रह अपने अधिकारों को आत्म-उत्पीड़न के द्वारा प्राप्त करने का माध्यम है, यह शस्त्रों द्वारा विरोध का विलोम है। इसका उद्देश्य युद्धबल के उद्देश्य से बिल्कुल उल्टा है। अगर कोई काम मेरी आत्मा को अस्वीकार्य है, मैं उसे करने से इनकार कर दूं तो आत्मबल का यह इस्तेमाल करना सत्याग्रह है। अगर सरकार कोई ऐसा कानून बनाती है जो मुझ पर लागू होता है और मैं उसे पसंद नहीं करता। अगर मैं उसे निरस्त कराने के लिए हिंसा का प्रयोग करता हूँ तो यह शरीरबल का प्रयोग करना होगा। मैं उस कानून को मानने से इनकार कर देता हूँ तो मैं आत्मबल प्रयोग करता हूं, यानी सत्याग्रह करता हूं। यही आत्मबलिदान है- आत्मोत्सर्ग उसका हिस्सा है। सब मानते हैं कि दूसरे के बलिदान से लाख गुना अच्छा आत्म-बलिदान होता है।"

अब यहां हम समझ सकते हैं कि महात्माजी के जीवन में अध्यात्म कैसे कूट-कूट कर भरा हुआ था। हम यह भी कह सकते हैं कि उनके जीवन का सारा ताना-बाना अध्यात्म से ही बुना हुआ था।जिसे आत्म-तत्व की पहचान होती है और जो आत्मबल का उपयोग युद्ध बल के खिलाफ करते हुए आत्मोत्सर्ग करने को तैयार है वह भला अध्यात्म से कैसे दूर हो सकता है?

40/97, स्वर्णपथ
मानसरोवर, जयपुर
मो.- 9460380232

कर्मफल की प्राप्ति तेरा लक्ष्य न हो, न अकर्मण्यता में तेरी आसक्ति हो।
- गीता

कुछ न करने की कुछ लोगों में अच्छी प्रतिभा होती है।
- टामस 'हेलिबर्टन'

सामान्यतः कुछ करते हुए की अपेक्षा कुछ न करता हुआ आदमी ज्यादा दिलचस्प होता है।
- गर्टरूड स्टाइन

पंजाब का हिन्दी भाषा-साहित्य के विकास में योगदान

डॉ. सुनीता शर्मा

वेदों की धरती, तक्षशिला जैसे विश्व के प्रथम विश्वविद्यालय की जन्मधात्री, सिख गुरुओं की पुण्यस्थली एवं हीर-रांझे के अमर प्रेम के गीतों की धुन से मदमस्त कर देने वाली धरा पंजाब ने अपनी मातृभाषा पंजाबी के साथ-साथ हिन्दी में भी विपुल साहित्य का सृजन किया है। हिन्दी साहित्य की समृद्धि में आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक हर विधा में पंजाब का यशस्वी योगदान है।

भारत के उत्तर में अवस्थित इस पंजाब प्रांत का प्राचीन नाम **'सप्तसिंधु'** था। सरस्वती से लेकर सिंधु नदी तक का सात नदियों-- सरस्वती, शतद्रु (सतलुज), विपाशा (व्यास), चन्द्रभागा (चिनाव), वितस्ता (जेलहम), सिंधु का क्षेत्र इसके अंतर्गत आता था। समय के साथ सरस्वती विलीन हो गई और सिंधु नदी केवल पश्चिम सीमा तक केन्द्रित रह गई, अतः केवल पाँच नदियाँ शेष रह गई जिसके आधार पर इसे **'पञ्चाम्बु'** अथवा **'पंचनद'** कहा गया। पञ्चनद का प्राचीन उल्लेख महाभारत के सभा पर्व में नकुल द्वारा पंचनद की विजय के उल्लेख से मिलता है। महाभारत में इन पाँच नदियों में शतद्रु, विपाशा, इरावती, चन्द्रभागा और वितस्ता के नाम आते हैं। अतः सप्तसिंधु, पञ्चाम्बु, पंचनद आदि प्राचीन नामों के स्थान पर मध्यकाल में इस भू-भाग के लिए फारसी के प्रभाव से पञ्च-आब **'पंजाब'** नाम प्रयुक्त हुआ। सन् 1580 में तारीखे 'शेरशाह सूरी' में इसका प्रथम प्रयोग मिलता है। तत्पश्चात् अबुल फजल लिखित **'आईने-अकबरी'** भाग-1 व फिर **'तुजुके जहाँगीरी'** में भी इसकी पुष्टि होती है। अब पंजाब नाम ही इस प्रांत की पहचान है जो पांच नदियों से रूढ़ हुआ है। इन नदियों की स्थिति को स्पष्ट करते हुए सोहिंदर सिंह बेदी लिखते हैं-- **"ये नदियाँ भारत के उत्तरी पहाड़ों से निकलती हैं तथा सेथल पर खुले हाथ की पाँच उंगलियों की भांति फैल जाती हैं। पूर्व में सतलुज और व्यास एक दूसरे से मिल जाती हैं। पश्चिम में रावी, चिनाव और जेहलम मिल जाती है और ये पाँचों पंचनद में मिलकर अंत में सिंधु नदी में समाहित हो जाती हैं।"**[1]

इसकी **भौगोलिक संरचना एवं ऐतिहासिकता** पर विचार किया जाए तो 1947 से पहले पंजाब प्रदेश भारत के उत्तर में अवस्थित वह विस्तृत एवं विशाल भूखंड था जिसकी सीमाएं

उत्तर में हिमालय की शिवालिक पर्वतमाला से मिलती थी तो दक्षिण में सिंध प्रदेश तक फैली थी। पूर्व में इसकी सीमा राजस्थान तक थी तो पश्चिम में सिंधु नदी इसकी सीमा रेखा बनती थी। 1947 में धार्मिक-राजनैतिक कारणों से इस देश को दो भागों भारत-पाकिस्तान में विभाजित कर दिया गया। जिसमें यह विशाल प्रदेश- पूर्वी पंजाब और पश्चिमी पंजाब में बंट गया। पश्चिमी पंजाब पाकिस्तान में चला गया जिसमें लाहौर इसकी पश्चिमी सीमारेखा से निकल गया, बाकि तीनों सीमा रेखाएं यथावत् रही पर 1966 ई. में भाषायी स्तर पर पुनः इसका विभाजन हुआ। इसमें से हिन्दी क्षेत्र अलग होकर **हरियाणा** कहलाया तो दूसरी ओर इसकी पर्वतीय सीमाएं जो शिमला और कांगडा तक फैली हुई थी, इससे अलग होकर नया राज्य बनी जो **हिमाचल प्रदेश** कहलाया। जम्मू-कश्मीर अपनी विशेष भौगोलिक संरचना के कारण इससे पहले ही अलग हो चुका था। पंजाब में केवल तीन नदियां रह गई-- सतलुज, व्यास और रावी। अब वर्तमान पंजाब की भौगोलिक सीमा रेखा के अंतर्गत पूर्व में हरियाणा, पश्चिम में हिमाचल प्रदेश, दक्षिण में राजस्थान और उत्तर में जम्मू-कश्मीर आता है। वर्तमान पंजाब 22 जिलों का भूखंड है जिसके प्रमुख एवं प्रसिद्ध जनपदों में अमृतसर, लुधियाना, गुरदासपुर, जालंधर, नवांशहर, कपूरथला, पठानकोट, भंठिडा, रोपड, संगरूर, मुक्तसर, फरीदकोट, आनन्दपुर साहिब, होशियारपुर, मानसा, फाजिल्का आदि आते हैं। अविभक्त पंजाब पाँच दुआबों में विभक्त था (दुआब दो नदियों के मध्यवर्ती क्षेत्र को कहा जाता है) - दुआब बिसत, बारी, रचना, चज और सिंधसागर पर अब केवल दो आब हैं--- **'दोआब बिस्त'** और **'दोआब बारी'**। दुआब बिस्त में सतलुज और ब्यास नदी के मध्य का क्षेत्र आता है जबकि दुआब बारी में ब्यास और रावी का मध्यवर्ती भाग आता है। अपनी विशेष संरचना के कारण पंजाब तीन भैगोलिक भागों में बंटा है--- मालवा, माझा और दोआबा। मालवा के अंतर्गत-- फिरोजपुर, लुधियाना, पटियाला, भठिंडा और संगरूर जनपद आते हैं जबकि माझा में- अमृतसर, गुरदासपुर व पठानकोट जिले पड़ते हैं तथा दोआबा में-- जालंधर, होशियारपुर व कपूरथला सम्मिलित हैं।

सामाजिक दृष्टि से पंजाब एक ऐसा भूभाग है जिसे भिन्न-भिन्न जातियों का स्थायी घर कहा जा सकता है। इन जातियों में सिख, जाट, खत्री, अरोड़ा, ब्राह्मण, वैश्य, सैनी, कंबोह और सांसी सबसे महत्वपूर्ण हैं। सिख-जाट पंजाब के खेतिहर किसान हैं जिनकी संख्या सबसे अधिक है। सैनी तथा कंबोह परिश्रमी और चतुर खेतिहर छोटी जातियाँ हैं। खत्री, अरोड़ा व्यापारी हैं तथा सांसी, पाखीवारा, बाजीगर पंजाब की घुमक्कड़ जातियां हैं जो आदिवासियों में से आती है। पंजाब की अधिकांश जनसंख्या गावों में रहती है। पंजाब के गाँव अब नगरों में परिवर्तित होते जा रहे हैं। वैसे तो पंजाब के गाँव आत्मनिर्भर हैं पर फिर भी आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक रूप से एक सूत्र में गुंथे हुए हैं और एक-दूसरे पर आश्रित भी हैं। पंजाब की इस ग्रामीण व्यवस्था से प्रभावित होकर मैरियन डब्ल्यू स्मिथ ने लिखा है-- **"पंजाबी समाज सुंदर पच्चीकारी का वह नमूना नहीं है जो विभिन्न ग्रामीण अंशों से बना हो, यह एक सुन्दर गलीचे की भांति है जिसका प्रत्येक भाग एक रूप है तथा पहचाना जा सकता है परन्तु फिर भी समस्त रचना के साथ अविभाज्य रूप से बुना हुआ है।"**[2]

भाषा के संदर्भ में यदि विचार किया जाए तो पंजाब प्रांत की मातृभाषा एवं राज्यभाषा पंजाबी है जिसे भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में मान्यता प्राप्त है। पंजाबी भाषा का विकास पैशाची अपभ्रंश से हुआ। ईस्वी दसवीं ग्याहरवीं शताब्दी में पंजाब में लैंहदा, पूरबी, लाहौरी, मुल्तानी आदि भाषा नाम प्रचलित थे। पंजाब की भाषा के लिए पंजाबी

नाम का अकबर के काल में राजस्थान के कवि सुन्दरदास ने प्रयोग किया और फिर 1670 ई. में औरंगजेब के समकालीन कवि हाफिज बर्खुरदार ने अपनी कविता में स्पष्टतः पंजाबी भाषा नाम का प्रयोग किया।''[3] इस पंजाबी भाषा का आधुनिक स्वरूप--- माझी, दुआबी, मलबई, डोगरी, कांगडी, कंडियाली, पुआधी, मुल्तानी, राठी, झांगी, पोठोहारी, भटियानी आदि बोलियों का समन्वित रूप है। 1947 में जब भारत-पाक विभाजन हुआ तो भाषागत विभाजन भी हुआ। भाषा का वह रूप जो पाकिस्तान में रहा उसके लिए पश्चिमी पंजाबी नाम पड़ गया जिसमें लैंहदा, पोठोहारी बोलियाँ प्रमुख हैं तथा स्वतंत्रता पश्चात् इस पश्चिमी पंजाबी लैंहदा को वहाँ की अरबी-फारसी युक्त उर्दु ने प्रभावित कर लिया। पंजाबी का जो रूप भारत में रहा वह **'पूर्वी पंजाबी'** कहलाई। इसका व्यवहार दिल्ली तक था इसलिए इसे शौरसेनी अपभ्रंश ने भी प्रभावित किया। पंजाबी भाषा की लिपि गुरुमुखी है। गुरुमुखी लिपि का विकास लंडा लिपि से हुआ जिसका उद्‌भव शारदा लिपि से माना गया है। सिखों के दूसरे गुरु अंगददेव जी ने लंडा लिपि को संशोधित करके ही गुरुमुखी लिपि चलाई जिसका प्रयोग अब पंजाबी के लिए हो रहा है। इसकी यात्रा में **बाबा फरीद** को पंजाबी साहित्य का प्रथम लेखक माना जाता है। इनकी रचना का एक उदाहरण प्रस्तुत है:

''बुढ़ा होइआ शेख फरीद, कंभज लग्गी देहि,
जे सोऊ वरिआं जीवण, भी तनु होसि खेहि।।''[4]

आरम्भिक काल में इस भाषा में लोक साहित्य और वार साहित्य की विपुल रचना हुई। सोहलवीं शताब्दी में पंजाबी की पृष्ठभूमि पर ही गुरुमत काव्यधारा का विकास हुआ। गुरु अर्जुन देव जी सिक्खों के पाँचवें गुरु ने सन् 1604 ई. में आदिग्रंथ का सम्पादन करके पंजाब के लगभग पाँच सौ वर्षों के सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन के साथ-साथ पंजाबी भाषा का इतिहास भी लिपिबद्ध कर दिया। लगभग इसी समय शाह हुसैन, शाह शरफ, शाह मुराद ने पंजाबी में काफी, सीहरफी तथा ग़ज़ल को लोगों तक पहुँचाया। किस्सा काव्य में कवि दामोदप ने सर्वप्रथम पंजाबी में **'हीरा'** का किस्सा लिखा जो पंजाबी लोक का आकर्षण बना। इसके साथ-साथ मिर्जा-साहिब, सस्सी-पुन्नू, युसफ-जुलैखा के किस्सों का जन्म भी हुआ। मध्यकाल के उत्तरार्द्ध में कृष्ण-काव्यधारा व राम-काव्यधारा के कवियों ने अपनी रचनाओं को पंजाबी भाषा से प्रभावित ब्रजभाषा को गुरुमुखी लिपि में कलमबद्ध किया, फिर बुल्लेशाह, अली हैदर, वारिसशाह जैसे कवियों की पंजाबी रचनाएं जन्म लेती है। वारिसशाह की **हीरा** किस्सा काव्य की एक अमर रचना बन गई। गुरु तेगबहादुर और गुरु गोविन्द सिंह की वाणी सृजित हुई और पंजाबी में ही जन्मसाखी, टीकाएं, उत्थानिकाएं, गोष्ठी रहितनामे व हुकुमनामा साहित्य की रचना हुई। संस्कृत की प्रसिद्ध रचनाओं का पंजाबी में अनुवाद हुआ और पंजाबी के विकास के लिए कई धार्मिक लहरों यथा--- **'निरंकारी लहर', 'नामधारी लहर', 'सिंह सभा लहर'** ने विशेष योगदान दिया।

पंजाबी भाषा और साहित्य का आधुनिक काल भी कम आश्चर्यजनक नहीं है इस काल में परंपरावादी काव्य के साथ-साथ आधुनिक पंजाबी का भी विकास हुआ। **भाई वीर सिंह** (रचना- राणा सूरत सिंह) **आधुनिक पंजाबी काव्य** के प्रवर्तक कहे जा सकते हैं। इनके साथ ही प्रो. पूर्ण सिंह (खुल्ले कुंड), मोहन सिंह (सावे पत्तर), बाबा बलवंत (महानाच), अमृता प्रीतम (अलफ दुपहिरे), शिव कुमार बटालवी (पीडां दा पराग), अवतार सिंह पाश (उजड़े बाजां दे मगर) आदि पंजाबी के सशक्त कवि हैं। पंजाबी में गज़ल और गीत ने भी विकास किया। **पंजाबी गद्य साहित्य** का आरम्भ उपन्यास से हुआ। पंजाबी के राष्ट्रीय स्तर के उपन्यासकारों में भाई वीर सिंह (सुन्दरी), नानक सिंह (पवित्र पापी

तथा मतरेयी मां), अमृता प्रीतम (पिंजर), कर्त्तार सिंह दुग्गल (आंदरा, नानक नाम सब दा भला), दलीव कौर टिवाणा (एहो हमारा जीवणा), गुरदयाल सिंह (मडी दा दीवा) के नाम उल्लेखनीय हैं। उपन्यास के साथ ही **पंजाबी कहानी** भी पंजाबी समाज की समस्याओं, संवेदनाओं और अनुभूतियों के साथ अवतरित होती है। नाटक और एकांकी लेखन में भी एक दीर्घ परम्परा का सूत्रपात हुआ। **यात्रावृत्त, जीवनी, रेखाचित्र-संस्मरण, आत्मकथा लेखन एवं आलोचना,** हर विधा में पंजाबी साहित्य समृद्धि को प्राप्त कर रहा है। कोशकारी के क्षेत्र में भाई काह्न सिंह नामा **'महान कोश'** की रचना कर विश्व में अपनी पहचान बना चुके हैं। पंजाबी के अमृता प्रीतम तथा गुरदयाल सिंह को ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त हुए है। राज्य में प्रकाशित होने वाली विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा यह भाषा उन्मुक्त गगन में पंख पसार रही है।

पंजाब में हिन्दी का प्रचार

पंजाब में हिन्दी के प्रचार-प्रसार की बात की जाए तो यह स्पष्ट होता है कि इस क्षेत्र में हिन्दी के प्रचार हेतु सर्वप्रथम प्रयास मध्यकाल में विशेषतः उत्तर-मध्यकाल में मिलते हैं। हिन्दी भाषा को दरबारों में संरक्षण प्राप्त हुआ। इस दिशा में पटियाला दरबार, कपूरथला दरबार, नाभा दरबार, जींद दरबार, गुरु गोविंद सिंह का गुरु दरबार तथा महाराजा रणजीत सिंह दरबार का महत्वपूर्ण योगदान है। इन दरबारों के राजा लेखक भी थे और स्वयं साहित्य में रुचि रखते थे और अपने दरबारों में रचनाकारों को प्रश्रय भी देते थे। उनसे कई विषयों पर चर्चा-परिचर्चा कर रचनाकर्म की ओर प्रेरित कर उनकी रचनाओं को सुरक्षित रखने की व्यवस्था भी करवाते थे। राजाओं द्वारा लेखन प्रतियोगिताएं करवाई जाती जिनमें उत्कृष्ट रचनाकारों को पुरस्कृत किया जाता था। पंजाब के हिन्दी साहित्य का उत्तर-मध्यकाल ब्रजभाषा का स्वर्णयुग था। संस्कृत रचनाओं का हिन्दी में अनुवाद करवाकर जन-जन तक पहुँचाने का प्रयास किया जा रहा था। गुरु गोविंद सिंह के दरबार में 52 कवि थे जिनमें 14 कवि हिन्दी के थे। महाभारत के अनुवाद श्रेय गुरु गोविंद सिंह को जाता है। हिन्दी प्रचार में उनके योगदान को देखते हुए डॉ. हरमहेन्द्र सिंह बेदी लिखते हैं--- **"गुरु गोविंद सिंह ने भारत का पूर्ण सांस्कृतिक एवं पौराणिक आधारों से सम्बन्ध स्थापित कर पूरे राष्ट्र को एक सूत्र में बांधा और ब्रजभाषा के द्वारा उस अजस्र धारा में बहुमूल्य योगदान दिया।"**[5]

हिन्दी प्रचारक संस्थाएं एवं व्यक्तित्व

आधुनिक काल में अंग्रेजों के आगमन के साथ ही हिन्दी अपनी विशेष पहचान स्थिर कर रही थी। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिन्दी को व्यापक जनाधार मिला और इसके प्रसार में कई प्रचारक संस्थाएं और व्यक्तित्व आगे आए। स्वतंत्रता पूर्व हिन्दी की प्रमुख प्रचारक संस्थाएं हैं-- **लाहौर आर्यसमाज (1877, दयानंद सरस्वती), लाहौर देवसमाज (1887, शिव नारायण अग्निहोत्री), सनातन धर्मसभा (1900, मदन मोहन मालवीय और पंजाब में गोस्वामी गनेश दत्त), पंजाब शिक्षा संघ (1911, लाला लाजपत राय), लोक सेवा मंडल (पुरुषोत्तम दास टंडन), साहित्य सदन अबोहर (1929, स्वामी केशवा नंद)।**

स्वतंत्रता के पश्चात पंजाब में हिन्दी के प्रचार के लिए कई सस्थाएं बनी। इन संस्थाओं में कुछ हैं-- **पंजाब कला साहित्य अकादमी-** जालंधर, **हिन्दी साहित्य परिषद-** फगवाडा, **हिन्दी लेखक संघ-** जालंधर, **हिन्दी प्रचार समिति-** अमृतसर, **साहित्य कला सुमन मंच-** तरनातारन, **अंग्रेजी अनिवार्यता विरोधी समिति-** नकोदर, **त्रिवेणी कला मंच-** जालंधर आदि।

हिन्दी को समुचित स्थान दिलाने हेतु लाला हंसराज ने दयानंद सरस्वती के साथ मिलकर सन् 1886 में दयानंद ऐंग्लोवैदिक-कॉलेज की स्थापना की

जिसमें सभी विद्यार्थियों के लिए हिन्दी पढ़ना अनिवार्य था। पंजाब में हिन्दी प्रचार-प्रसार में **लाला लाजपतराय** की बलवती भूमिका थी। 1911 में पंजाब शिक्षा संघ की स्थापना की। उन्होंने 1911 से हिन्दी भाषा के लिए आन्दोलन चलाया। हिन्दी में देश भक्तों की जीवनियाँ लिखी। हिन्दी में उनके लिखे लेख सरस्वती पत्रिका में भी प्रकाशित हुए। **पुरुषोत्तम दास टंडन** ने हिन्दी प्रचार के लिए कई साहसिक कदम उठाए। लाला लाजपतराय के साथ मिलकर हिन्दी का प्रचार-प्रसार किया और फिर लाला जी की मृत्यु पश्चात् **'लोक सेवा मंडल'** की स्थापना कर लाहौर में हिन्दी का प्रचार-प्रसार किया। इन्होंने लाहौर की विभिन्न संस्थाओं से जुड़कर हिन्दी का विकास एवं प्रसार किया। **'स्वामी श्रद्धानंद'** (मूल नाम **महात्मा मुंशीराम)** ने स्वामी दयानंद सरस्वती का अनुसरण कर देवनागरी लिपि व हिन्दी भाषा को महत्व दिया। आपने हिन्दी में **'अर्जुन'** नाम का पत्र प्रकाशित कर हिन्दी की महत्ती सेवा की। अमृतसर में जलियांवाला कांड के पश्चात् कांग्रेस का 34 वां अधिवेशन हुआ जिसमें स्वामी श्रद्धानंद समिति के अध्यक्ष थे। उन्होंने अपना भाषण हिन्दी में दिया और हिन्दी को राष्ट्रभाषा घोषित करने के लिए पुरजोर सिफारिश की। आपने भारतीयता की शिक्षा देने वाले संस्थान **गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय** की स्थापना की। **चंद्रगुप्त विद्यालंकार** स्वतंत्रता पूर्व तक लाहौर विश्वविद्यालय के साथ जुड़े रहे और खूब हिन्दी लेखन किया। आपने विश्व साहित्य ग्रंथ माला का हिन्दी में संपादन किया। **संतराम बी.ए.** ने हिन्दी सेवा हेतु महापुरुषों की जीवनियाँ लिखी तथा **'उषा', 'भारती', 'युगांतर'** व **'विश्वज्योति'** नामक पत्रिकाओं का प्रकाशन किया। **नवीन चंद्र राय** लाहौर में ब्रह्मसमाज के संस्थापक तथा पंजाब के महान हिन्दी सेवी थे। 1880 से वे पंजाब में हिन्दी प्रचार-प्रसार में लग गये थे और हिन्दी में विभिन्न विषयों की पुस्तकें तैयार की थी। हिन्दी व्याकरण के साथ-साथ **रत्न-प्रभाकर** की पाठ्य पुस्तकें भी तैयार की। इनका नवीन हिन्दी व्याकरण आज भी हिन्दी सीखने वालों की सहायता करता है। **'श्रद्धाराम फिल्लौरी'** हिन्दी पंजाबी के प्रसिद्ध साहित्यकार होने के साथ-साथ ओजस्वी वक्ता थे। उन्होंने हिन्दी में अपने भाषण देकर अपनी बात अधिक से अधिक लोगों तक पहुँचाने का प्रयास किया। 1870 में उन्होंने लोकप्रिय आरती **'ओम जय जगदीश हरे'** की रचना की। इसके अतिरिक्त दयानंद सरस्वती, विनोबा भावे, भक्तसिंह तथा स्वतंत्रता पूर्व के कई अन्य हिन्दी लेखकों ने हिन्दी के प्रचार-प्रसार में महती भूमिका निभाई। आज भी निरन्तर इसके प्रचार चल रहे हैं, जबकि सरकारी नीतियां अपने ढंग से काम कर रही है।

पंजाब में हिन्दी शिक्षण का कार्य उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से आरंभ हो गया था। सन् 1882 में ब्रिटिश हुकुमत में हिन्दू राजाओं के सहयोग से लाहौर में **'पंजाब विश्वविद्यालय'** की स्थापना हुई। इसके ओरियंटल लैंग्विजिज विभाग में हिन्दी शिक्षण का कार्य होता था। 1920 में यहां पांडुलिपि विभाग बना जहाँ हिन्दी, संस्कृत, फारसी आदि की 8500 से अधिक पांडुलिपियाँ थी। 1947 के भारत-पाक विभाजन में इसे भारत में स्थानांतरित कर दिया गया। कुछ समय तक दिल्ली तथा शिमला में चलने के बाद 1958 यह चंडीगढ में स्थानांतरित हुआ। चण्डीगढ़ में आते ही जहां पर हिन्दी रत्न-प्रभाकर की कक्षाएं आरंभ हुई जिसके लिए नवीनचंद्र राय तथा चतरथ भाइयों ने मिलकर पाठ्य पुस्तकें तैयार की। **1886** में स्वामी दयानंद सरस्वती के शिष्य **लाला हंसराज** ने लाहौर में **'दयानंद ऐंग्लोवैदिक कॉलेज'** की स्थापना की इससे हिन्दी प्रचार को सुदृढ़ आधार मिला। 20वीं शताब्दी के आरंभ में पंडित मदन मोहन मालवीय के शिष्य **गोस्वामी गणेश दत्त** ने लायलपुर (अब पाकिस्तान में) **'गुरुकुल'** की स्थापना की इसमें संस्कृत-हिन्दी अध्ययन-अध्यापन

की व्यवस्था थी। पंजाब में बहुत सी संस्थाएं खुली जिन्होंने पंजाब में हिन्दी का व्यापक प्रचार किया। **1910** में सरदार दयाल सिंह की वसीयतानुसार '**दयाल सिंह कॉलेज लाहौर**' की स्थापना हुई जो विभाजनोपरांत 16 सितम्बर 1947 को करनाल में आ गया। इसी तरह 1916 में **'एस.डी.कॉलेज'** लाहौर में बना जो **1948** में अम्बाला में आ गया। 1916 में ही देव समाज कॉलेज लाहौर की भी स्थापना हुई। हिन्दी शिक्षण के विकास में **स्वामी केशवानंद** का महत्वपूर्ण योगदान है उन्होंने सन् **1929** में **'साहित्य सदन अबोहर'** की स्थापना की और साथ ही 1925-1933 तक पंजाब में हिन्दी अध्ययन के लिए कई विद्यालयों की स्थापना की और पंजाब में हिन्दी प्रचार को और तीव्र किया।

स्वतंत्रता पश्चात पंजाब को चाहे पंजाबी सूबा घोषित किया गया और यहां हिन्दी को तीसरी भाषा का दर्जा मिला तथापि प्राइमरी स्कूलों में कक्षा एक से हिन्दी पढ़ाई जाती है। पहले हिन्दी का अध्ययन दसवीं कक्षा तक एक अनिवार्य विषय के रूप में करवाया जाता था। पिछले कुछ वर्षों से इसे आठवीं के पश्चात वैकल्पिक विषय रखा गया। हिन्दी प्रेमियों के प्रयासों से केन्द्र की सिफारिश से पुनः इसे अनिवार्य विषय घोषित कर दिया गया है। पंजाब के केन्द्रीय स्कूलों में हिन्दी प्रथम भाषा के रूप में पढ़ाई जाती है तथा दसवीं तक यह एक अनिवार्य विषय है। पंजाब में उच्च शिक्षा के क्षेत्र में सभी महाविद्यालयों में हिन्दी-शिक्षण एक वैकल्पिक विषय के रूप में करवाया जाता था पर अब कुछ महाविद्यालय हिन्दी के स्थान पर नये विषय अपना रहे हैं जो कि हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार के मार्ग में एक बहुत बड़ी त्रासद स्थिति है। पंजाब में पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़, पंजाबी विश्वविद्यालय पटियाला, गुरु नानक देव विश्वविद्यालय अमृतसर तथा लवली प्रोफेशनल यूनिवर्सिटी जालंधर में अलग से हिन्दी विभाग हैं जहां हिन्दी में अध्ययन-अध्यापन करवाया जा रहा है। इन विश्वविद्यालयों में शोधकार्य किए जा रहे हैं। हर विश्वविद्यालय में शोधार्थियों की संख्या भी अच्छी है जो शोघकार्यों में जुटे हैं। बी.एड. में भी हिन्दी को एक अध्यापन विषय के रूप में स्थान दिया गया है।

इस तरह स्वामी श्रद्धानंद द्वारा स्थापित गुरुकुल विश्वविद्यालय में हिन्दी माध्यम से उच्चतम शिक्षा की व्यवस्था और फिर साहित्य सदन अबोहर के प्रयासों से हिन्दी शिक्षण का जो वातावरण पंजाब में बना वही से शुरू होकर हिन्दी प्रचार-प्रसार का प्रयास निरंतर हो रहा है।

हिन्दी भाषा में साहित्य सृजन

हिन्दी अठारह बोलियों का समन्वित रूप है। इनमें से प्रमुख खड़ी बोली का क्षेत्र पंचनद (पंजाब) की भूमि ही है और यहीं से इसे सर्वप्रथम साहित्य में प्रविष्ट होने का अवसर मिलता है। हिन्दी साहित्य के आदिकाल में इसका प्रथम रूप, **अमीर खुसरो से पहले बाबा फरीद शकरगंज** की रचनाओं में देखा जा सकता है। एक उदाहरण प्रस्तुत है :

"जली याद में दिल सों शाद करना, यक तिल हुजूर सों टलना नई।

उठ बैठ में दिल सों शाद करना, गवाहदार को छोड़ के चलना नई।।"[6]

तत्पश्चात् इसका स्वरूप तेहरवीं शताब्दी में पानीपत निवासी शेख अबु कलंदर की रचना में मिलता है। उसकी रचना का एक उदाहरणः

"सजन सकारे जायेंगे और नैनां भरेंगे रोय।
विधना ऐसी रैन कर, भोर कभी न होय।।"[7]

यद्यपि खड़ी बोली में व्यापक रचना का काल बहुत बाद से आरंभ होता है फिर भी पंजाब के साहित्य में संतों-नाथों की वाणियों में इस भाषा का प्रयोग मिलता है। हिन्दी का पहला महाकाव्य **'पृथ्वीराज रासो'** चंदबरदाई द्वारा लाहौर (पंजाब) में लिखा गया। 12वीं शताब्दी में अब्दुरहमान कृत **'संदेस रासक'** तथा नाथ पंथ के गोरखनाथ,

चौरंगीनाथ, चर्पटीनाथ, भरथरी नाथ की रचनाएं पंजाब की धरा पर जन्म लेती हैं इनमें हिन्दी का प्राथमिक रूप मिलता है।

हिन्दी साहित्य के **मध्यकाल** में पंजाब में प्रचुर साहित्य रचा गया। इसके अंतर्गत गुरुकाव्य, रामकाव्य, कृष्णकाव्य, सूफीकाव्य, दरबारी काव्य, रीतिकाव्य मिलता है। उत्तर-मध्यकाल तक पंजाब में हिन्दी गद्य का निर्माण होना भी आरंभ हो चुका था। गुरुकाव्य के अंतर्गत सात गुरुओं का साहित्य आता है- गुरुनानक देव, गुरु अंगद देव, गुरु अमरदास, गुरु रामदास, गुरु अर्जुन देव, श्री गुरु तेग बहादुर, गुरु गोविंद सिंह। इनमें से पहले छः गुरुओं की वाणी श्री गुरु ग्रंथ साहिब में दर्ज है जबकि गुरु गोविंद सिह की प्रसिद्ध रचनाओं में जाप साहिब, अकाल अस्तुति, विचित्र नाटक, शास्त्र नाममाला, ज्ञान प्रबोध व चरित्रों पाख्यान आती हैं। पंजाब के इस काल के हिन्दी साहित्य में एक विशेष परिवर्तन भी परिलक्षित होता है और वह यह है कि इस काल में गुरुमुखी लिपि का उद्भव हो चुका था, इसलिए मध्यकाल में जो साहित्य सृजित हुआ उसकी भाषा ब्रज थी और लिपि गुरुमुखी।

पुनर्जागरण काल में कवियों ने राम और कृष्ण के वीर रूप व शृंगारी रूप पर आधारित ब्रजभाषा में उत्कृष्ट कृतियों की रचना की। इनमें रामकाव्य में सोढी मिहिरबान कृत **'आदि रामायण'**, हृदयराम भल्ला का **'हनुमान नाटक'**, कवि गुलाब सिंह की **'अध्यात्म रामायण'**, कवि निहाल की **'रामचन्द्रीय'**, गुरु गोविंद सिंह की **'रामावतार'** आदि प्रमुख रचनाएं हैं। कृष्ण काव्य में सोढी मिहरबान की **'कथा श्री कृष्ण चन्द्र की'**, आलम की **'स्याम सनेही'**, जातिदास की **'रुक्मिणी मंगल'** व **'सुदामा चरित'**, कवि गुलाब का **'रुक्मिणी मंगल'**, गुरु गोविंद सिंह का **'कृष्णावतार'** आदि उल्लेखनीय रचनाएं हैं। पंजाब में रचित इन काव्यों में राम एवं कृष्ण के लोकरक्षक वीर रूप का वर्णन हुआ है।

मध्यकाल में पंजाब में सूफी कवियों के कई केन्द्र स्थापित हो चुके थे। इन्होंने पंजाब में रहते हुए रोचक प्रेमगाथाओं को अपनी रचनाओं में चित्रित किया। बाबा शेख फरीद को पंजाब का प्रथम रचनाकार कहा गया है। उसके पश्चात् सूफी रचनाकारों में शाह हुसैन, शाह शरफ, बुल्लेशाह, सभाचंद सौंधी, गुरदास गुणी के नाम आते हैं। इनके द्वारा रचित **'हीर-रांझा', 'ससी-पुन्वू', 'शीरी-फरहाद', 'लैला-मजनू', 'नल-दमयन्ती'** सम्बन्धी ब्रजभाषा के प्रेमाख्यान मिलते हैं। चन्द्रकांत बाली ने पंजाब के इस सूफी काव्य के विषय में लिखा है, **"हिन्दी साहित्य में सूफी काव्यों को प्रेमाख्यानक काव्य कहा जाता है, इस सूफी काव्य को पंजाबी में किस्सा काव्य कहकर सांसारिक प्रेम गाथाएं माना जाता है।"**[8]

उत्तरमध्यकाल के उत्तरार्द्ध में पंजाब में गद्यरचना का अविर्भाव भी हो चुका था। गद्यकारों में सोढी मिहरबान, राम प्रसाद निरंजनी, दयाल अनेमी, तारासिंह नरोतम आदि प्रमुख हैं। राम प्रसाद निरंजनी कृत **'भाषा योग वसिष्ठ'** को हिन्दी साहित्य की प्रथम गद्य रचना का श्रेय प्राप्त है। इस प्रकार मध्यकाल में रचित पंजाब के हिन्दी साहित्य में समाज, धर्म, नीति, सामुद्रिक शास्त्र, चिकित्सा शास्त्र व संस्कृति की विपुल परंपरा का पोषण हुआ है। पंजाब इस तत्कालीन साहित्य की भाषा के संदर्भ में डॉ. विनोद शाही के विचार उल्लेखनीय हैं---- **"ग्यारहवीं से लेकर अठारहवीं शती तक के एक लम्बे अरसे के दरम्यान यह 'हिंदी-पंजाबी' या 'पंजाबी-हिन्दी' एक दूसरे से अतहदा न होती हुई एक सांझी अखंड भाषा की तरह विकास करती रही। यदी हम गौर करें तो पाएंगे कि चंदबरदायी, गुरु नानक, गुरु तेग बहादुर, फरीद, बुल्लेशाह जैसे लोग जिस भाषा में लिख रहे थे वह पंजाबी भी थी, हिन्दी भी और कहीं-कहीं उर्दू भी। वह**

ऐसी भाषा थी जिसे सभी 'अपना' मानकर अपने-अपने इतिहास में दर्ज करना पसंद करते हैं।''[9]

आधुनिक काल में पंजाब के हिन्दी साहित्य का प्रथम कवि पंडित श्रद्धाराम फिल्लौरी को माना गया है। **'सत्यधर्म मुक्तावली', 'शतोपदेश', 'धर्मसंवाद', 'बीजमंत्र'** आदि ब्रजभाषा देवनागरी लिपि में रचित उनके कविता संग्रह हैं जिनमें नैतिकता, शांति, धार्मिकता, मानसिक शुद्धि, अहिंसा, सामाजिकता व संस्कृति के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डाला है। आधुनिक काल की कविता के प्रमुख हस्ताक्षरों में सुरेश वात्स्यायन, उपेन्द्रनाथ अश्क, अज्ञेय, कुमार विकल, नरेन्द्र मोहन, बलदेव वंशी, चन्द्रशेखर, सौमित्र मोहन, मोहन सपरा, डॉ. हरमहेन्द्र सिंह बेदी, शुभदर्शन, शहरयार, जगतावली सूद, कीर्ति केसर, परवीन मलिक के साथ असंख्य ऐसे नाम जुड़ते जाते हैं जिनका उल्लेख इस शोधालेख की सीमाओं में होना असंभव है। पंजाब की आधुनिक कविता में स्वतंत्रता के स्वर, विद्रोह के स्वर, विभाजन की त्रासदी, समाज की विभिन्न समस्याओं और रोमानियत का चित्रण हुआ है।

पंजाब में रचित कथा साहित्य की देन भी हिन्दी साहित्य में अनुपम है। **'भाग्यवती'** के रूप में हिन्दी साहित्य का प्रथम उपन्यास भी पंजाब की देन है जिसकी रचना सन् 1870 में श्रद्धाराम फिल्लौरी ने की। पंजाब के प्रमुख उपन्यासकारों में यशपाल, उपेन्द्रनाथ अश्क, भीष्म-साहनी, अज्ञेय, गुरुदत्त, मोहन राकेश, निर्मल वर्मा, कृष्ण सोबती, जगदीश चन्द्र, मनमोहन सहगल, नरेन्द्र कोहली, केवल सूद, द्रोणवीर कोहली, डॉ. अजय आदि असंख्य उपन्यासकार पंजाब की देन हैं। **'झूठा-सच', 'तमस', 'जिन्दगीनामा', 'गिरती दीवारें', 'शेखर एक जीवनी', 'अंधेरे बंद कमरे', 'नरमेघ', 'वे दिन', 'धरती धन न अपना', 'एक पति के नोट्स', 'मुर्गीखाना'** आदि पंजाब में रचित हिन्दी साहित्य के मास्टर पीस उपन्यास हैं। इन उपन्यासों में विभाजन की त्रासदी, पुनर्वास की समस्या, पंजाब का आतंकवाद, शरणार्थी समस्या, कश्मीर का आतंकवाद, दलित शोषण, समलैंगिकता, बदलते मानवीय संबंध, ग्रामीण संस्कारों, स्त्री-पुरुष संबंधों का बदलता परिदृश्य, महानगरीय परिवेश तथा आधुनिकीकरण आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है। इसी प्रकार पंजाब का कहानी लेखक भी लगभग इन्हीं समस्याओं को लेकर अवतीर्ण होता है। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी कृत **'उसने कहा था'** न केवल हिन्दी साहित्य अपितु विश्व की श्रेष्ठ कहानियों में स्थान लिए हुए है। पंजाब के कहानिकारों की एक दीर्घ सूची है और कितने ही कथाकार कहानी लेखन में सक्रिय हैं।

दृश्य काव्य रचना में भी पंजाब का नाटककार कहीं आगे दिखाई देता है। स्वतंत्रतापूर्व पंजाब में पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनैतिक व राष्ट्रीय नाटक लिखे गये। इस समय के प्रसिद्ध नाटककारों में सुदर्शन **('अंजना', 'छाया')**, उदयशंकर भट्ट **('विद्रोहिणी अंक', 'भाग्यचक्र', 'कमला')**, उपेन्द्रनाथ अश्क **('जय-पराजय', 'कैद', 'उडान', 'अंजोदीदी')**, चंद्रगुप्त विद्यालंकार **('अशोक', 'रेवा')**, सुदर्शन **('दयानंद', 'सिकंदर')** उल्लेखनीय हैं। स्वतंत्रता के पश्चात् उपरोक्त नाटककारों के साथ-साथ **देवराज दिनेश** ('रावण'), **कैलाश नाथ भट्टनागर** ('चाणक्य प्रतीज्ञा'), **मोहन रोकेश** ('लहरों के राजहंस, आषाढ़ का एक दिन, आधे-अधूरे'), **नरेन्द्र कोहनी** ('शंबूक की हत्या'), **भीष्म साहनी** ('हानूश'), **मोहन चोपड़ा** ('आँधी और घर') नाटककारों के साथ ही चन्द्रशेखर, वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता, ज्ञान सिंह मान, सुरेश सेठ आदि का भी नाटक के विकास में योगदान है। पंजाब के इन नाटककारों ने अपने नाटकों में अपने समय की हर प्रवृति को माइक्रोस्कोप से देखने का प्रयास किया। पंजाब का

हिन्दी नाटक साहित्य इतना समृद्ध एवं गरिमापूर्ण है कि यदि इसे संपूर्ण हिन्दी नाटक से अलग कर दिया जाए तो शायद हिन्दी नाटक उल्लेखनीय बहुत कम रह जाएगा।

पंजाब के हिन्दी एकांकी पर दृष्टि डालते हुए यह कहा जा सकता है कि पंजाब ही आधुनिक एकांकी नाटक का जन्मदाता है। पंजाब का पहला एकांकी कार बद्रीनाथ भट्ट **'सुदर्शन'** है और उसकी रचना है **'छाया'** जो 1925 में प्रकाशित हुई। **'छाया'** को पहला एकांकी मानते हुए सिद्धनाथ कुमार ने लिखा है-**"कथानक निर्माण, संघर्ष, चरित्र-चित्रण, संलाप और प्रभावान्विति की दृष्टि से सन् 1925 में प्रकाशित होकर 'छाया' एकांकी अपने युग की बहुत बड़ी उपलब्धि है और आधुनिक एकांकी नाटक का सूत्रपात करता है। आश्चर्य है कि इस नाटक के रहते हुए भी विद्वान प्रसाद जी के 'एक घूँट' को हिन्दी का प्रथम आधुनिक एकांकी मानते हैं।"**[10]

पंजाब के अन्य एकांकी कारों में उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ अश्क, हरिकृष्ण प्रेमी, मोहन राकेश, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, बलराज साहनी, पृथ्वीराज शर्मा, यशपाल, मोहन चोपड़ा, देवराज दिनेश, अज्ञेय, चिरंजीत शर्मा, चन्द्रशेखर आदि उल्लेखनीय स्थान रखते हैं। पंजाब में एकांकी के विकास में आकाशवाणी, दूरदर्शन केन्द्र तथा अन्य प्रांतीय संस्थाओं का भी योगदान है।

निबंध लेखन के क्षेत्र में पंजाब कहीं पीछे नहीं है। पंजाब के ऐतिहासिक नगरों, धार्मिक एवं ऐतिहासिक व्यक्तियों, वीर पुरुषों, ऐतिहासिक घटनाओं (जैसे जलियांवाले बाग की त्रासद घटना, भारत-पाक विभाजन), धार्मिक स्थलों, राष्ट्रीय एवं अतर्राष्ट्रीय प्रसंगों ने निबंधकारों को निबंध लेखन की ओर प्रेरित किया है। पंजाब के प्रमुख निबंधकारों में सरदार पूर्ण सिंह, बाल मुकुन्द गुप्त, संतराम बी.ए., लाला लाजपतराज, डॉ. संसार चंद्र, सत्यदेव विद्यालंकार, सुरेश सेठ, इन्द्रनाथ मदान, मनमोहन सहगल, चंद्रधर शर्मा गुलेरी के नाम प्रमुखतः लिए जाते हैं। सरदार पूर्ण सिंह ने केवल छः निबंध (**सच्ची वीरता, कन्यादान, मज़दूरी और प्रेम, आचरण की सभ्यता, पवित्रता, अमरीका का मस्ताना योगी वाल्ट विहरमैन**) लिखकर हिन्दी निबंध साहित्य में विशेष स्थान बना लिया। दूसरी ओर पंजाब के निबंधकार बाल मुकुन्द का निबंध संग्रह **'गुप्त निबंधावली'** शीर्षक से प्रकाशित हुआ। वे पंजाब के एकमात्र निबंधकार हैं जो भारतेन्दु और द्विवेदी युग को जोड़ने की एक महत्वपूर्ण कड़ी बने हैं। इसी तरह चंद्रधर शर्मा गुलेरी के दो निबंध **'कछुआ धर्म' व 'मारेसि मोहि कुठाउं'** भी उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी साहित्य की गौण विधाओं के क्षेत्र में भी पंजाब कुछ क्षेत्रों में अग्रणी है तो कुछ क्षेत्रों में साहित्य की विधाओं के साथ चहलकदमी करता नजर आता है। **'आत्मकथा'** साहित्य में स्वामी श्रद्धानंद ने **'कल्याण मार्ग का पथिक'** शीर्षक से आत्मकथा लिखी जो 1924 में ज्ञानमण्डल वाराणसी से प्रकाशित हुई। इसके साथ ही यशपाल की आत्मकथा **'सिंहावलोकन'** दो भागों में सन् 1951-52 में प्रकाशित हुई और 2004 में भीष्म साहनी की आत्मकथा **'आज के अतीत'** भी पंजाब में रचित एक शीर्षस्थ आत्मकथा है। **जीवनी** परक साहित्य में विश्वम्भर शर्मा कौशिक की **'रूस का राहु'** (रासपुटीन की जीवनी) तथा **'जरीना'** (रूस की महारानी का जीवन चरित), मनमोहन सहगल की **'सन्त महाराज सावन सिंह'** तथा **'शिव स्वरूप श्रीचंद'** तथा तनसुखराम गुप्त की **'भारतीय महापुरुष', लाल बहादुर शास्त्री : महाप्रयाण, 'परमपूजनीय श्री गुरुजी'** आदि प्रमुख जीवनियां हैं। रेखाचित्र रचना में देवेन्द्र सत्यार्थी का **'रेखाएं बोल उठी'** यशपाल की **'हमने भी इश्क किया था'** तथा **'तुमने क्यों कहा मैं सुन्दर हूँ'** के नाम लिए जा सकते हैं। **संस्मरण** लेखकों में यशपाल--- **'रेखाएं**

और चित्र', अज्ञेय- **'आत्मनेपद',** श्री वीरेन्द्र- **'वे इन्कलाबी दिन'** क्रांतिकारी भगत सिंह की संस्मरणात्मन कृति- **'मेरे क्रांतिकारी साथी',** कृष्णा सोबती- **'अस्पताल',** सुरेश सेठ- **'शहर वही है'** तथा तनसुखराम गुप्त- **'संघर्ष के पथ पर', स्मृति के भय से** तथा **'जीवन के कुछ क्षणों में'** आदि उल्लेखनीय रचनाकार और रचनाएं हैं। **रिपोर्ताज**--- मुरारी लाल सुरस-- **'आँखा देखा', 'डोगरोई'** तथा सुरेश सेठ-- **'नये सपनों का आकाश'** गणनीय रिपोर्ताज हैं। **डायरी लेखन** में मोहन राकेश की डायरी तथा बाल मुकुन्द गुप्त की डायरी **('टिप्पण और आत्मारामी नोट'** शीर्षक से 1907 में प्रकाशित हुई**)** उल्लेखनीय हैं। **व्यंग्य साहित्य** में भी पंजाब के लेखकों का योगदान है। डॉ. संसारचंद्र की **'सटक सीताराम', 'सोने के दांत', 'अपनी डाली के काँटे',** सुदर्शन की **'आनरेरी मेजिस्ट्रेट'** देवराज दिनेश की **रिश्वत के अनेक ढंग, काठ की हड्डियां** आदि व्यंग्य-कृतियां उल्लेखनीय हैं। **पत्र साहित्य** भी पंजाब में मध्यकाल से लिखा जा रहा था आधुनिक काल में बालमुकुन्द गुप्त ने पत्रों और चिट्ठों के आधार पर हिन्दी साहित्य में ख्याति प्राप्त की। **'शिवशम्भु के चिट्ठे'** तथा **'चिट्ठे और खत'** उनकी सुप्रसिद्ध रचनाएं हैं, साथ ही विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक की **'दुबे जी की चिट्ठियां',** पंडित भगवत् दत्त का **'ऋषि दयानंद' का पत्र व्यवहार** उल्लेखनीय हैं।

पंजाब की पत्रकारिता भी हिन्दी साहित्य को समृद्ध बनाती है। बंगाल के बाद अन्य क्षेत्रों से हिन्दी पत्रकारिता को जो गति और योगदान प्राप्त हुआ उसमें पंजाब का योगदान सर्वाधिक सराहनीय है। सरदार संतोष सिंह के संपादकत्व में **'सकल संबोधिनी पत्रिका'** 1867 में अमृतसर से प्रकाशित पंजाब भी पहली हिन्दी पत्रिका थी। इसके पश्चात् हिन्दू प्रकाशि (अमृतसर), भारत मित्र (लाहौर), जगत् आशना (लुधियाना), भारत हितैषिणी (लाहौर), ज्ञान प्रदायिनी (लाहौर) उन्नीसवीं शताब्दी में प्रकाशित होने वाले मासिक एवं द्वैमासिक पत्र थे। बींसवीं शताब्दी में एक लंबी सूची पत्र-पत्रिकाओं की मिलती है और आज दस-ग्यारह हिन्दी के समाचार-पत्र रोजाना प्रकाशित हो रहे हैं। पत्रिकाओं के संदर्भ में 'प्राधिकृत' **(हिन्दी विभाग गुरु नानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर),** 'कश्फ़' **(संपादक डॉ. विनोद कुमार तनेजा, अमृतसर),** 'बरोह' **(संपा. डॉ. शुभदर्शन, अमृतसर),** 'साहित्य सिलसिला' **(संपा. डॉ. अजय, जालंधर),** 'शब्द-सरोकार' **(संपा. डॉ. हुकुमचंद राजपाल, पटिलाया),** 'अन्यथा' **(संपा कृष्ण किशोर, लुधियाना),** 'फिर' **(संपा. मोहन सपरा, नकोदर),** 'पंजाब सौरभ' **(भाषा विभाग, पटियाला),** जागृति **(लोक सम्पर्क विभाग, चण्डीगढ),** अतिरिक्त पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़ से **परिशोध** के साथ-साथ कई और भी संस्थाओं तथा महाविद्यालयों से हिन्दी पत्रिकाओं का प्रकाशन पंजाब में हिन्दी के विकास में योगदान दे रहा है।

संपर्क भाषा के रूप में हिन्दी : सम्पर्क भाषा उस भाषा को कहते हैं जो किसी क्षेत्र में सामान्य रूप से किन्हीं दो ऐसे व्यक्तियों के बीच प्रयोग हो जिनकी मातृभाषाएं अलग हों। इसे सेतु भाषा, व्यापार भाषा भी कहते हैं। पंजाब में हिन्दी, संपर्क भाषा के रूप में इस प्रांत में आने वाले दूसरे राज्यों के लोगों के लिए महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। पंजाबी भाषी लोगों के व्यापार वाणिज्य के लिए भी यह सेतु का काम कर रही है। सामान्यतः हर पंजाबी इसका ज्ञान रखता है। सरकारी कार्यालयों में भी केन्द्र से आने वाली सूचनाओं और पत्राचार के लिए इस भाषा का प्रयोग हो रहा है। बैंक, जीवन बीमा निगम आदि हर स्थान पर इसका स्वागत ही होता है। एक हिन्दी भाषी व्यक्ति को पंजाब में स्थानीय लोगों से वार्तालाप में कोई दिक्कत नहीं होती।

पंजाब में हिन्दी-पंजाबी अनुवाद की स्थिति सुखद

है। पंजाबी के रचनाकारों की उत्कृष्ट रचनाएं हिन्दी में अनुवादित होकर हिन्दी पाठकों के लिए सुलभ हैं। पंजाबी लेखिका अमृता प्रीतम का समस्त साहित्य हिन्दी में उपलब्ध है जिस पर कई शोधकार्य भी हुए हैं। गुरदयाल सिंह के उपन्यास, आत्मजीत के नाटक, नानक सिंह, दलीप और टिवाणा की कविताएं और आत्मकथा हिन्दी में अनुवादित हो चुकी हैं। पंजाबी से हिन्दी में अनुवाद हुए उपन्यासों में पंजाब का परिवेश जीवंत हो उठता है। पंजाबी संस्थाएं तथा हिन्दी संस्थाएं और विश्वविद्यालय इस दिशा में निरंतर प्रगति कर रहे हैं। पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला ने भाई काह्न सिंह नाभा के 'महान कोश' के हिन्दी अनुवाद की परियोजना सफलतापूर्वक सम्पन्न की है। बहुत सी आलोचनात्मक, मुख्यतः लोकधारा की पुस्तकें भी समय-समय पर हिन्दी में अनुवादित होकर सुलभ करवाई जा रही है। गुरु ग्रंथ साहिब, गुरुवाणी, दशम ग्रंथ तथा दरबारों का पंजाबी साहित्य अनुवाद के द्वारा हिन्दी साहित्य की निधि बन चुका है। हिन्दी की प्रमुख रचनाएं जैसे-- रामचरित मानस, बिहारी सतसई, प्रेमचंद के उपन्यास, निर्मल वर्मा के उपन्यास, कृष्णा सोबती का साहित्य पंजाबी में अनुवादित हो चुका है। इसके साथ ही यशपाल, भीष्म साहनी तथा आधुनिक कवियों की हिन्दी कविताएं भी पंजाबी में अनुवाद की जा रही हैं। हिन्दी की लोक संस्कृति पर आधारित पुस्तकें भी अनुवाद की जा रही हैं। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि भाषा-भाषी संस्थाएं, विश्वविद्यालयों के भाषा विभाग तथा केन्द्रीय परियोजनाओं के अंतर्गत यह काम किए जा रहे हैं।

निष्कर्षतः हिन्दीतर भाषी पंजाब लगभग सभी विधाओं में हिन्दी साहित्य को समृद्ध कर रहा है। वैदिक-काल से लेकर आज तक इस क्षेत्र ने जो अनंत अनुभव अर्जित किए हैं उनको हिन्दी भाषा और साहित्य के माध्यम से पूरे भारत एवं विश्व के सम्मुख रखा है। हिन्दी को आर्य भाषा इसी धरा पर कहा गया। इसकी प्रमुख बोली खड़ी बोली इसी धरा पर प्रफुल्लित होती है। पाँच दरियाओं की इस धरती पर हिन्दी भाषा में सृजनात्मक कार्य निर्बाध गति से चल रहा है। बदलती चेतना और युगधर्म को आत्मसात् करने वाला यह साहित्य हिन्दी साहित्य में अक्षय महत्व अर्जित किए हुए है।

संदर्भ

1. सोहिंदर सिंह बेदी, पंजाब की लोक संस्कृति और साहित्य, अनुवाद-उषा, दिल्लीः नेशनल बुक ट्रस्ट, 1975 पृ. 47।

2. मैरियन डब्ल्यू स्मिथ, इंडियन विलेजिरु, कम्जूनिटी डिवेल्पमेंट डिपार्टमेंट वेस्ट बंगाल, पृ. 144।

3. रविकुमार 'अनु', पंजाबी साहित्य एवं भाषा का इतिहास, दिल्ली : शिवहरि प्रकाशन, 2003, पृ. 25।

4. वही, पृ. 44।

5. पंजाब के हिन्दी साहित्य का इतिहास, संपा. हरमहेन्द्र सिंह बेदी व डॉ. कुलबिन्दर कौर, दिल्ली : निर्मल पब्लिकेशन्स, 2003 पृ. 160।

6. चन्द्रकांत बाली, पंजाब प्रांतीय हिन्दी साहित्य, दिल्ली : नेशनल बुक ट्रस्ट, 1962, पृ. 88।

7. पंजाब का हिन्दी साहित्य को योगदान, संपा. लाल सिंह, पंजाब भाषा विभाग, पृ. 19।

8. पंजाब के हिन्दी साहित्य का इतिहास, संपा. डॉ. हरमहेन्द्र सिंह बेदी व डॉ. कुलबिन्दर कौर, दिल्लीः निर्मल पब्लिकेशन्स, 2003, पृ. 81।

9. अहिन्दी प्रदेशों में रचित हिन्दी साहित्य, संपा. डॉ. सरबजीत कौर राय, जालंधरः दीपक पब्लिशर्ज, 2012 पृ. 41-42।

10. सिद्धनाथ कुमार, हिन्दी एकांकी की शिल्प विधि का विकास, दिल्लीः राजकमल प्रकाशन, 1978, पृ. 159।

हिन्दी विभाग

गुरु नानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर

मेल : sunitasharma.indu@gmail.com

मो. : 9915065150

भारतीय बहुलता के परिप्रेक्ष्य में पूर्वोत्तर की भाषाएं

प्रो. हितेन्द्र कुमार मिश्र

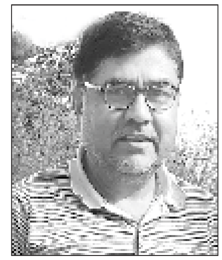

भारत एक बहुलतावादी देश है, जो उसके विविध संदर्भों में पायी जाती है। भारत में यह बहुलता जितने अधिक क्षेत्रों एवं परिमाण में पायी जाती है, विश्व के शायद ही किसी देश में पायी जाती होगी। जाति, धर्म, भाषा, भूगोल, पर्यावरण, आचार-विचार, रीति-रिवाज, रहन-सहन, खान-पान, पर्व-त्योहार, लोक-विश्वास, कद-काठी, नाक-नक्श, रंग-रूप प्रत्येक क्षेत्र में यह बहुलता सहज ही देखी जा सकती है। यह भारत ही है, जहाँ एक साथ छह ॠतुएँ पायी जाती हैं। एक ही दिन में इसका एक कोना गर्म तो दूसरा ठण्डा होता है। भारत की यह बहुलता ही उसका सौंदर्य है और उसकी महानता का कारक भी। हमारा भारत वह उद्यान है जहाँ विश्व की सर्वाधिक प्रजातियों के पुष्प पल्लवित और पुष्पित होते हैं।

भारत की इस बहुलता के केंद्र में यहाँ की संस्कृति प्रमुख से जिम्मेदार रही है, जो विश्व के दूसरे देशों से अलग है। सदियों से हमारे जीवन का विकास सहजीविता और सहधर्मिता के आधार पर हुआ है। सभ्यता के विकास क्रम में सदियों से हमारी इसी विशेषता ने हमें समृद्ध किया है। आज के समय में जनसंख्या को आधार बनाकर अगर बात की जाय तो स्पष्ट है कि हम विश्व के द्वितीय स्थानिक देश हैं। सबसे बड़ी जनसंख्या का देश होने के बावजूद चीन में भारत जैसी बहुलता नहीं है। भारत में सदियों से अनेक बाहरी जातियों, समूहों का आगमन होता रहा है। इसका मूल कारण यहाँ की भौगोलिक स्थिति रही है। अलग-अलग समय और कारणों से भारत भूमि पर आई हुई ये जातियाँ या समूह थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ यहाँ के होकर रह गए। वर्तमान में ये सभी भारत के मूल नागरिक हैं।

भारत की भौगोलिक स्थिति पर अगर ध्यान दिया जाय तो यह देश लगभग तीन दिशाओं से समुद्र से घिरा हुआ है और उत्तर का अधिकांश पर्वत से आच्छादित है। सदियों पूर्व आवागमन का सुगम मार्ग स्थल मार्ग ही रहा है। इस कारण बाहर के देशों से भारत आगमन का मार्ग अधिकांशतः पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत अथवा पूर्वोत्तर सीमा प्रांत रहा है। इनमें से पश्चिमोत्तर सीमा से आने वाले जनसमूहों का विस्तार मैदानी क्षेत्रों में सहजता एवं सरलता पूर्वक हुआ। लेकिन पूर्वोत्तर सीमा से आनेवाले जनसमूहों के साथ ऐसा नहीं हुआ। प्राचीनकाल से भारत आने वाले इन प्रवासियों का समय लगभग 6000 ईसा पूर्व से 1000 ई.

तक रहा है।

भारत में इन जातीय समूहों के आगमन के व्यापक कारणों में यहाँ की उपजाऊ जमीन और जलवायु के साथ-साथ यहाँ की संस्कृति में संस्कारतः सहजीविता और सहधर्मिता की भावना रही है। भारतीय सांस्कृतिक स्वरूप की यह मौलिकता है कि यहाँ के लोगों ने विजातीयता के कारण किसी जाति या समूह को अस्वीकार नहीं किया। यहाँ तक कि सबसे अंतिम समय में 7वीं शताब्दी में इस्लाम और फिर अंग्रेजी सत्ता का आगमन हुआ किंतु उनके मुस्लिम व इसाई समुदाय आज भी हमारे साथ समान अधिकार और सम्मान से भारतवासी हैं। हम सभी धर्मों एवं समुदायों के प्रति समान सम्मान एवं आदर करने के अभ्यस्त हैं। जाति, धर्म, एवं भाषा के स्तर पर पाए जाने वाले वैविध्य के बावजूद भारत में सबके लिए समान सम्मान का भाव यहाँ के संस्कारों में व्याप्त है। भारतीय संस्कृति की यह संस्कारगत विशेषता हमारे संविधान में भी सुरक्षित है। हमारे संविधान का अनुच्छेद 4-17 समानता, अनुच्छेद 19 अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, अनुच्छेद 21 स्वतंत्रता, अनुच्छेद 25 धर्म की स्वतंत्रता के लिए आश्वस्त करता है। स्वतंत्रता के पश्चात भारत के राजनीतिक स्वरूप में विविध धर्मों एवं समुदायों के प्रति सहिष्णुता का व्यवहार इसका वैशिष्ट्य है।

भारतीय बहुलता के परिप्रेक्ष्य में भारत के भाषाई स्वरूप को भी रेखांकित किया जाना चाहिए। भाषा के स्तर पर विविधता के मूल में भी उपरोक्त वर्णित कारण ही सर्वप्रमुख हैं। भारत में सदियों से अपने-अपने वैशिष्ट्य के साथ मानव समूहों का आगमन हुआ तो यह वैविध्य सामाजिकता के साथ-साथ भाषिक स्तर पर भी होना स्वाभाविक ही है।

भाषा वैज्ञानिकों ने व्यवहार के स्वरूप के आधार पर भाषा को राष्ट्रभाषा, राजभाषा, सम्पर्क भाषा, मातृभाषा जैसे भेदों में विभाजित किया है और व्यवहार की व्यापकता के आधार पर भाषा, विभाषा और बोली जैसे उपभेदों को निश्चित किया है। भाषा, विभाषा और बोली के विभाजन के बीच बड़ी सूक्ष्म विभाजक रेखा होती है। कभी-कभी बोलियों ने इन सीमाओं के प्रतिबंधित दायरे का अतिक्रमण करते हुए भाषा के रूप में अपने को स्थिर किया है तो कभी-कभी भाषाओं ने अपने को समेटते हुए बोलियों का स्वरूप धारण किया है। यही कारण है कि सर्वेक्षण कार्य करने वाले भाषाविदों को इनमें अंतर कर पाने में सर्वथा कठिनाई हुई है।

भारत के महत्वपूर्ण भाषा सर्वेक्षक जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने लिखा कि "सर्वेक्षण का कार्य करते समय यह निश्चित करने में कठिनाई पड़ी कि वास्तव में एक कथित भाषा स्वतंत्र भाषा है, अथवा अन्य किसी की बोली है। इस संबंध में इस प्रकार का निर्णय देना जिसे सब लोग स्वीकार कर लेंगे, कठिन है। भाषा और बोली में प्रायः वही संबंध है जो पहाड़ तथा पहाड़ी में है। यह निःसंकोच रूप से कहा जा सकता है कि एवरेस्ट पहाड़ है और हालबर्न एक पहाड़ी, किन्तु इन दोनों के बीच विभाजक रेखा को निश्चित रूप से बताना कठिन है। सच तो यह है कि दो बोलियों अथवा भाषाओं में भेदीकरण केवल पारस्परिक वार्ता सम्बन्ध पर निर्भर नहीं करता। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इस सम्बन्ध में विचार करने के लिए अन्य महत्वपूर्ण तथ्यों को भी दृष्टि में रखना आवश्यक है।"[2] भारत में बोली जाने वाली भाषाओं और बोलियों में भेद निश्चित न किए जा सकने के कारण उनकी ठीक-ठीक संख्या का अनुमान कर पाना एक कठिन काम है। भाषा और बोली के बीच के अंतर पर यदि ध्यान न दिया जाये तो भारत में बोली जाने वाली भाषाओं की संख्या सत्रह सौ के आसपास अनुमानित की जाती है। भारत में व्यवहृत इन भाषाओं की व्युत्पत्ति अलग-अलग समय में विभिन्न भाषा समूहों से हुई है। विश्व में बोली जाने वाली भाषाओं के पारिवारिक विभाजन के आधार

पर यह देखा जाता है कि भारत में विश्व के कुल पाँच प्रमुख भाषा परिवारों यथा- आर्य, द्रविड़, आग्नेय, तिब्बती-बर्मन और अंडमानी की भाषााएं बोली जाती हैं।

उक्त भाषा परिवारों में भारतीय आर्यभाषा परिवार, बोलने वालों की संख्या के आधार पर सबसे बड़ा भाषा परिवार है। भारत में इस परिवार की लगभग 21 प्रमुख भाषाएं- असमी, उड़िया, उर्दू, कश्मीरी, कोंकणी, खानदेशी, गुजराती, डोंगरी, नेपाली, पंजाबी, बंगाली, विष्णुपुरिया, भीली, मराठी, मैथिली, लहंदा, संस्कृत, सिंधी, शिना, हलाबी और हिंदी बोली जाती हैं, जिनके बोलने वालों की संख्या का पूरी आबादी में 76.86 प्रतिशत है। इन भाषाओं में से पंद्रह भाषाएं संविधान की आठवीं अनुसूची में सम्मिलित हैं।"[3] इस समूह की कुछ भाषाएँ पूर्वोत्तर भारत में भी बोली जाती हैं। जिनमें असमी, बंगाली, विष्णुपुरिया, हिंदी और नेपाली उल्लेखनीय हैं।

भारत के भाषा परिवारों में दूसरा प्रमुख भाषा परिवार द्रविड़ है। 'इस भाषा परिवार के बोलने वालों की संख्या भारत की आबादी में 20.82 प्रतिशत है। इस परिवार से सम्बन्धित भारत में कुल सत्रह भाषाएं बोली जाती हैं, जिनमें से कन्नड़, मलयालम, तमिल और तेलुगु संविधान की आठवीं अनुसूची में भी सम्मिलित हैं। इस समूह की कोई भी भाषा पूर्वोत्तर भारत में नहीं बोली जाती। आग्नेय भाषा परिवार भारत में बोलने वालों की संख्या के आधार पर तीसरे स्थान पर है। इसके भारत में बोलने वालों की संख्या 1.11 प्रतिशत है।"[4] इस परिवार की भाषा के मुख्यतः दो समूह भारत में हैं, खमेर-निकोबारी और मुण्डा। खमेर-निकोबारी में मॉन-खमेर और निकोबारी दो समूह हैं। मॉन-खमेर समूह की एक मात्र भाषा-- खासी, पूर्वोत्तर भारत के मेघालय की प्रमुख भाषा है जो निकोबारी अंडमान में भी प्रचलित है। मुण्डा समूह की बारह भाषाएं भारत में प्रचलित हैं जिनमें से संथाली को 2003 से संविधान के 92वें संशोधन के माध्यम से आठवीं अनुसूची में स्थान प्राप्त है। तिब्बती-बर्मन परिवार की भाषाओं को बोलने वालों की संख्या भारत में अत्यल्प है जो कुल आबादी का लगभग एक प्रतिशत है।[5] बोलने वालों की संख्या इस समूह की भले ही कम हो किंतु विविधता की दृष्टि से यह बहुत ही सम्पन्न समूह है। इसकी भाषाओं की संख्या 66 के आसपास है। इस समूह की तीन मुख्य शाखाएं-- तिब्बती-हिमालयन, उत्तरी असमी और असमी-बर्मन है। भारत में बोली जाने वाली तिब्बती-बर्मन समूह की सभी भाषाएँ पूर्वोत्तर भारत में बोली जाती हैं। इस समूह की दो भाषाएँ मणिपुरी और बोडो संविधान की आठवीं अनुसूची में भी शामिल हैं। भारत में बोले जाने वाले भाषा परिवारों में अंडमानी परिवार की भाषाएँ भी बोली जाती हैं। इस भाषा परिवार की भाषाओं के अनेक रूप अंडमान निकोबार द्वीप समूह में प्रचलित हैं। इसके अलावा भारत में थाई समूह की भी एक भाषा खाम्पती बोली जाती है जो अरुणाचल के एक विशिष्ट समूह द्वारा बोली जाती है। भारत की यह भाषाई बहुलता जनजातीय समूहों में भी पायी जाती है। इन जनजातीय समूहों में प्रायः अलग-अलग भाषाएं बोली जाती हैं। 'भारत में जनजातीय समूहों की संख्या 705 बताई जाती है।"[6] प्रायः प्रत्येक जनजाति अपने रहन-सहन, खान-पान, रीति-रिवाज की विशिष्टता के साथ-साथ भाषाई वैशिष्ट्य को लिए हुए है। बोलने वालों की संख्या के आधार पर ये चाहे छोटी या बड़ी कह दी जायें, उन्हें चाहे जनगणना में सम्मिलित भी न किया जाय, किंतु महत्त्व की दृष्टि से सभी समान हैं।

भारत में निवास करने वाले जनजातीय समूहों में पूर्वोत्तर भारत में जनजातियों की बहुलता है और इसीलिए भी बहुलता के भाषाई दर्शन होते हैं। पूर्वोत्तर भारत में भारत के आठ राज्यों को सम्मिलित किया जाता है। ये राज्य- असम, मेघालय, अरुणाचल, मिजोरम, नागालैण्ड, मणिपुर, त्रिपुरा

और सिक्किम हैं। जिन्हें पारिवारिक रूप से सात बहनें और सिक्किम को भाई के रूप में गिना जाता है लेकिन केवल इन राज्यों से ही पूर्वोत्तर नहीं बनता। सामाजिक, सांस्कृतिक और भौगोलिक रूप से देखा जाय तो इसमें उत्तर बंगाल के दार्जिलिंग, सिलीगुड़ी और कूचबिहार को भी सम्मिलित किया जाना श्रेयस्कर है। इस प्रकार पूर्वोत्तर भारत में बोली जाने वाली भाषाओं पर ध्यान दिया जाय तो यहाँ मुख्यतः आग्नेय और तिब्बती-बर्मन परिवार की भाषाएं बोली जाती हैं। इनमें मेघालय की खासी एक मात्र पूर्वोत्तर भारत में आग्नेय परिवार की भाषा है। अरुणाचल की खाम्पती थाई भाषा परिवार से सम्बन्ध रखती है, इसके अलावा अधिकांश भाषाएं तिब्बती-बर्मन परिवार की भाषाएँ हैं। पूर्वोत्तर भारत के जनजातीय समूहों की यह एक महत्वपूर्ण विशेषता है कि ये भारतीयता के साथ-साथ अपनी मौलिकता के प्रति विशेष सजग दिखाई देते हैं। भारत के अन्य क्षेत्रों में निवास करने वाली जनजातियों पर भाषाई बहुलता के दबाव (सामाजिक सांस्कृतिक) अधिक हैं, कारण यह है कि उन क्षेत्रों में जनसंख्या के आधार पर वे समूह अल्पसंख्यक हैं और रोजी-रोजगार के कारण दूसरी भाषा का दबाव उन पर अधिक है। किंतु पूर्वोत्तर भारत की जनजातियों के साथ ऐसा नहीं है। यहां के राज्यों में निवास करने वाले इन जनजातीय समूहों की आबादी बहुसंख्यक है। इसलिए इन समूहों पर रोजी-रोजगार सम्बन्धी वैसे दबाव नहीं हैं जैसे देश के अन्य क्षेत्रों में हैं। यहाँ बहुभाषिकता का कारण आपसी सम्पर्क और राष्ट्र के साथ सम्मानजनक सम्बन्ध स्थापना है। यहाँ बहुभाषिकता का दबाव न होते हुए भी भारत की दूसरी भाषाओं के साथ इनके सम्पर्क आदर्श स्थिति में हैं। इसे और स्पष्ट करने के लिए पूर्वोत्तर में प्रचलित भाषाओं की राज्यवार स्थिति के आँकड़ों को देखा जा सकता है।

जनसंख्या की दृष्टि से असम पूर्वोत्तर भारत का सबसे बड़ा राज्य है। जनसंख्या के आधार पर असम भारत का पंद्रहवाँ राज्य है जो क्षेत्रफल की दृष्टि से स्काटलैंड के बराबर है। सन् 2001 ई. की जनगणना के अनुसार यहाँ 48.8 प्रतिशत असमिया तो 27.5 प्रतिशत बंगला भाषी निवास करते हैं। शेष 5.88 प्रतिशत हिंदी, 4.8 प्रतिशत बोडो, 2.12 प्रतिशत नेपाली के साथ 11.8 प्रतिशत अन्य भाषा भाषियों का हिस्सा इस राज्य में निवास करता है। जनसंख्या के आधार पर पूर्वोत्तर भारत में त्रिपुरा दूसरे स्थान पर है, जो भारतीय स्तर पर 22वाँ राज्य है। इस राज्य में त्रिपुरी बोलने वालों की संख्या 25.46 प्रतिशत है तो बंगला 67.14 प्रतिशत है। यहां हिंदी भाषियों की संख्या 1.68 प्रतिशत तो कूकी भाषा-भाषियों की संख्या 1.2 प्रतिशत है। जनसंख्या के आधार पर मेघालय पूर्वोत्तर के राज्यों में तीसरे स्थान पर है और भारत का 23वाँ राज्य है। इस राज्य की मुख्य भाषाएं खासी, गारो और जयंतिया हैं जो यहाँ की पहाड़ियों और जनजतीय समूहों के भी नाम हैं। मेघालय में बोलने वालों की संख्या के आधार पर देखें तो खासी 33.82 प्रतिशत, गारो 31.6 प्रतिशत, पनार 10.69 प्रतिशत, बंगाली 6.44 प्रतिशत, नेपाली 1.85 प्रतिशत, वार 1.73 प्रतिशत, हिंदी 1.62 प्रतिशत, हाजोंग 1.4 प्रतिशत, असमी 1.34 प्रतिशत और अन्य 9.51 प्रतिशत हैं। इसी प्रकार जनसंख्या के आधार पर पूर्वोत्तर का चौथा राज्य मणिपुर है जो इसी आधार पर भारत का 24वाँ राज्य है। इस राज्य में गैर जनजातीय भाषा का दबाव बहुत कम है। मैतेई यहाँ की प्रमुख भाषा है जिसके बोलने वालों की संख्या यहाँ की आबादी का 53 प्रतिशत है। इस राज्य में बंगला और हिंदी भाषी 1.25 और 1.14 प्रतिशत हैं। नागालैण्ड जनसंख्या के आधार पर पूर्वोत्तर का पाँचवाँ और भारत का पच्चीसवाँ राज्य है। इस राज्य में भी गैर जनजातीय भाषाओं का दबाव अत्यल्प है। यहाँ कोनयाक, लोथा, अंगामी, आओ, चोकरी, चांग आदि भाषा-भाषियों का अनुपात गैर जनजातीय भाषा-भाषियों से अधिक है। यहां बंगला भाषी 3.77

तो हिंदी भाषी 3.13 प्रतिशत हैं। अरुणाचल जनसंख्या के आधार पर पूर्वोत्तर का छठवाँ तो भारत का सत्ताइसवाँ राज्य है। क्षेत्रफल के आधार पर यह राज्य पूर्वोत्तर का पहला तो भारत का पंद्रहवाँ राज्य है। भाषाई रूप से भी यह राज्य पूर्वोत्तर का अत्यंत उर्वर राज्य है। यहाँ पचास के आसपास प्रमुख जनजातियाँ और उनकी भाषाएं विद्यमान हैं। इस राज्य को भाषाई बहुलता में एशिया में प्रथम स्थान प्राप्त है। इस राज्य में निशी, आदी, मोनपा, बांगचू, तांगसा, मिश्मी, मिसिंग, नोक्ते के साथ-साथ असमी, बंगला, नेपाली और हिंदी भाषियों की भी अच्छी संख्या विद्यमान है। जनसंख्या के आधार पर भारत का अट्ठाइसवाँ और पूर्वोत्तर का सातवाँ राज्य मिजोरम भी जनजातीय समूहों और जनजातीय भाषाओं की दृष्टि से अल्पसंख्यक नहीं है। गैर जनजातीय भाषा-भाषियों की संख्या यहाँ अत्यल्प या नहीं के बराबर है। इस राज्य में मिजो भाषी समुदाय प्रांत का सत्तर प्रतिशत से अधिक है। शेष समुदायों द्वारा प्रमुख रूप से चकमा, मारा, ताई, कूकी, त्रिपुरी, हमार, पाइते आदि जनजातीय भाषाएं बोली जाती हैं। जनसंख्या के आधार पर सिक्किम भारत और पूर्वोत्तर का सबसे छोटा राज्य है। इस राज्य में भारतीय आर्य, आग्नेय, तिब्बती बर्मन, तीनों भाषा-परिवारों की भाषाएं बोली जाती हैं। यहाँ नेपाली 62.6 प्रतिशत, भूटिया 7.6 प्रतिशत, हिंदी 6.6 प्रतिशत, लेपचा 6.5 प्रतिशत, लिंबू 6.3 प्रतिशत, शेरपा 2.4 प्रतिशत, तमांग 1.8 प्रतिशत तथा 6.2 प्रतिशत अन्य भाषा-भाषी रहते हैं।

पूर्वोत्तर भारत के भाषाई परिदृश्य को देखने से जो मूल बातें निकलकर सामने आती हैं, वे इस प्रकार हैं-

1. भारत में भाषाई वैविध्य की दृष्टि से पूर्वोत्तर भारत सर्वाधिक सम्पन्न है।

2. पूर्वोत्तर की यह भाषाई बहुलता उसे वैश्विक स्तर पर अप्रतिम बनाती है।

3. भाषाई वैविध्य के बावजूद सामाजिक, सांस्कृतिक सौहार्द में कोई समस्या नहीं है।

4. भाषाई वैविध्य के बावजूद बहुभाषिकता का दबाव मैदानी क्षेत्रों जैसा नहीं है, जहाँ छोटी भाषाएँ अपने अस्तित्व के संकट से जूझ रही हैं।

उपरोक्त तथ्यों को लेकर जब विचार करते हैं तो यह बात विचारणीय है कि राष्ट्रीय या क्षेत्रीय स्तर पर इनके अंतर्सम्बन्ध का स्वरूप क्या है? इस ओर जब ध्यान देते हैं तो 'राष्ट्रभाषा हिंदी और जनपदीय बोलियाँ' शीर्षक लेख में प्रो. नंद किशोर पाण्डेय का वक्तव्य महत्वपूर्ण हो जाता है, "वस्तुतः भाषाओं की एकता का आधार केवल व्याकरण नहीं है। ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक एवं राजनैतिक कारणों से भी भाषाई एकता होती है। ये ही कारण बिखराव के लिए भी उत्तरदायी हैं।"[7] प्रांतों की सीमाएं राजनैतिक होती हैं। राजनैतिक सीमाओं के आर-पार रहने वाले लोगों के सामाजिक, सांस्कृतिक सम्बन्धों में कोई अलगाव नहीं होता। हम सभी अपनी क्षेत्रीय विशेषताओं के साथ राष्ट्रीय चरित्र सहधर्मिता और सहजीविता के कारण विविधता में एकता को स्थापित करते हैं। मूल रूप से हम चाहे जिस जातीय समूह से सम्बन्ध रखते हों किंतु भारत की आबोहवा में विकसित होने के कारण भारतीय हैं।

पूर्वोत्तर के समुदायों में रहन-सहन, रीति-रिवाज, भाषा-बोली में वैविध्य के बावजूद भारतीयता के सूत्र देखे जा सकते हैं। आज पूर्वोत्तर भारत की अधिकांश भाषाओं के साथ राष्ट्रीय स्तर पर सर्वाधिक बोली-समझी जाने वाली सम्पर्क-भाषा हिंदी का सम्बन्ध अच्छा है। अधिकांश भाषाओं में हिंदी के शब्द और हिंदी में इनके शब्दों का प्रवेश हो रहा है। एक प्रकार से कहा जाय तो भाषा की नई शैलियों का विकास हो रहा है।

भाषा में सतत विकास की प्रक्रिया चलती रहती है। इसीलिए प्रत्येक युग में व्यवहार की भाषा मानक

भाषा से थोड़ा बहुत विचलन लिए हुए होती है। पूर्वोत्तर की भाषाओं में भी सहजीविता और सहधर्मिता के कारण ही हिंदी शब्दों का प्रवेश दिखाई देता है। 2011 की जनगणना में हिंदी के अंतर्गत आने वाली भाषाओं की संख्या 49 गिनाई गई है। जिसे ध्यान में रखते हुए उपरोक्त तथ्यों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि एक दिन ऐसा आयेगा जब हिंदी की 200 भाषाएं होंगी। यह केवल भाषा ही नहीं बल्कि 'सब पलें-सब बढ़ें' की भावना के साथ सबका समान सम्मान और अधिकार भारतीय बहुलतावादी संस्कृति का मूल आधार है।

संदर्भ

1. Trade, not invasion brought islam to india'-times of india, *The times of india. Retrieved 2017-07-28.*

2. अरुणागम, संयुक्तांक 15-16, में 'राष्ट्रभाषा हिंदी की बोलियाँ' शीर्षक से प्रो. नंद किशोर पाण्डेय का लेख, पृ.-08।

3. Census 2001, Statement 9.

4. Census 2001, Statement 9.

5. Census 2001, Statement 9.

6. Scheduled Tribes in India, As revealed in census 2011, Dr. C. Chandramouli, page-03.

7. अरुणागम, संयुक्तांक 15-16, में 'राष्ट्रभाषा हिंदी और जनपदीय बोलियाँ' शीर्षक से प्रो. नंद किशोर पाण्डेय का लेख, पृ. 08।

हिंदी विभाग, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग-793022

ई-मेल : hiten.hindi@gmail.com

मो. : 9436594338

●

पृष्ठ 4 का शेषांश ......

अध्यक्षीय

अपने सुख को विस्तृत करलो
सब को सुखी बनाओ।

उपर्युक्त पंक्तियों में प्रसादजी ने महान जीवन मूल्यों का दिग्दर्शन किया है। जीवन-मूल्यों को जानें, पहचानें, समझे, तभी हम और दूसरे सभी सुखी हो सकते हैं। आध्यात्मिकता से ही जीवों के व्यापक कल्याण का मार्ग प्रशस्त होगा। आज विज्ञान का युग है। विज्ञान तो सब को सुखी बनाने के लिए है, मनुष्य की चेतना का एक महान आयाम है, वह अध्यात्म का ही दूसरा पहलू है। परंतु उसका प्रयोग हम महाविनाशक अल्ट्रा सोनिक हथियार बनाने में करें तो विज्ञान क्या करे। चीन विषाणु हथियार बनाने में लगा है। कोरोना फैला दिया, जीवन पर महासंकट छा गया। विज्ञान तो टार्च की तरह अपनी रोशनी से मार्ग-दर्शन करता है। अब, अंधेरे में मार्ग देखने के लिए टार्च का उपयोग कोई भला आदमी कर रहा है या दुष्ट आदमी कर रहा है, इसमें टार्च दोषी कैसे?

- डॉ. बिट्ठलदास मूंधड़ा

हिन्दी भाषा-साहित्य की समृद्धि में दक्षिण का योगदान

डॉ. ए. सन्यासि राव

हिन्दू संस्कृति या हिन्दुत्व की, देश भर में व्याप्ति के लिए सहायक सिद्ध अनेक कारकों में वैदिक वाङमय व उपनिषदों के बाद सृजनात्मक साहित्य का, और उसमें भी पौराणिक/मिथक साहित्य का योगदान महत्वपूर्ण रहा है। मूल रूप में प्राचीन भारतीय आर्यभाषा 'संस्कृत' में सृजित रामायण, महाभारत, श्रीमद्‌भागवत आदि पौराणिक हिन्दू ग्रन्थों के भारत की विभिन्न आधुनिक आर्य और द्रविड़ भाषाओं में अनूदित होने के कारण सांस्कृतिक भिन्नता से युक्त भारत में एकता की भावना संपन्न हुई है। वैदिक वाङमय और पौराणिक साहित्य का, संस्कृत से विकसित हिन्दी, बंगाली, हरियाणी, मराठी, गुजराती, ओडिया आदि भारत की आधुनिक आर्य भाषाओं में अनुवाद सदियों के पहले से ही भाषा और संस्कृति की एकता की दृष्टि से न केवल हिन्दी राज्यों की संस्कृति में बल्कि उत्तरापथ के समस्त राज्यों में समानता पाई जाती है। इसका ऐतिहासिक कारण यह रहा है कि वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल (अंग्रेजों के शासन का भारत में प्रारम्भ होने) तक हिन्दी प्रदेश के साथ-साथ उत्तरापथ के समस्त राज्यों में संस्कृत से विकसित और अरबी-फारसी से मिश्रित हिन्दी/हिन्दुस्तानी का राजभाषा तथा राष्ट्रभाषा के रूप में विद्यमान रहना ही है। इसके विपरीत उत्तरापथ से कहीं सुदूर में स्थित और भाषा की दृष्टि से भी उत्तरापथ के आर्य परिवार की भाषाओं से बिल्कुल अलग द्रविड़ परिवार से संबंधित दक्षिण के राज्यों में भी हिन्दी भाषा-साहित्य का विकास होना समूचे भारत की एकता की दृष्टि से एक महान ऐतिहासिक घटना है।

भौगोलिक दृष्टि से और भाषा की दृष्टि से दक्षिण के द्रविड़-भाषा परिवार के राज्य हिन्दी प्रदेश से भले ही दूरवर्ती व अलग हों, फिर भी प्राचीन काल से दक्षिण में भी आर्य भाषा-संस्कृति की, पौराणिक/आध्यात्मिक साहित्य के अनुवाद के द्वारा व्याप्ति एक अदृश्य चेतना के रूप में विद्यमान है। इस सांस्कृतिक चेतना का आगे चलकर आधुनिक काल तक, द्रविड़-भाषा परिवार के क्षेत्र में विकास तथा हिन्दी भाषा-साहित्य के प्रचार-प्रसार के द्वारा उसकी समृद्धि में दक्षिणापथ के प्रशासकों, दार्शनिकों, अध्यात्मवादियों व साहित्यकारों का योगदान बहुमूल्य व अविस्मरणीय है। दक्षिण में, आन्ध्र-शातवाहनों के रूप में विख्यात

शातवाहन राजाओं के प्रशासन काल (235 ई.पू. से 200 ईसवी) में दक्षिणापथ में संस्कृत के साथ-साथ मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा 'प्राकृत' का भी अपूर्व विकास हुआ। इनके शासन-काल में 'वृहत्कथा' (कथा सरित्सागर), 'कातंत्र व्याकरण' आदि महान संस्कृत ग्रन्थों की रचना द्रविड़-भाषा परिवार के राज्य में संपन्न हुई। उक्त अमूल्य ग्रन्थों के ग्रन्थकार क्रमशः गुणाढ्य व शर्व वर्मा आन्ध्र शातवाहन के राजा कुंतल शातकर्णि के आस्थान पंडित के रूप में जाने जाते हैं। 'कविवत्सल' के रूप में प्रसिद्ध व प्रख्यात संस्कृत ग्रन्थ 'गाथा शप्तशती' के रचनाकार सत्रहवें शातवाहन राजा 'हाल' स्वयं कवि है।

आन्ध्र शातवाहनों के बाद तमिलनाडु में भी संगम-वाङमय के तदनंतर युग में संस्कृत सारस्वत का अपूर्व विकास हुआ। साहित्यिक ग्रन्थों के साथ-साथ तिरुत्कक्का देवार कृत 'जीवक चिंतामणि' जैसे विज्ञान से संबंधित महत्वपूर्ण साहित्येतर ग्रन्थों की भी रचना इस काल में संस्कृत में संपन्न हुई। दिल्ली-मेरठ के आसपास की कौरवी व संस्कृत से विकसित खड़ी बोली हिन्दी, मुसलमान शासकों द्वारा दक्षिण में अरबी-फारसी और द्रविड़ भाषा शब्दों से युक्त 'दक्खिनी' के 'दक्खिनी हिन्दी साहित्य' के विकास में भी दक्षिण के राज्यों का, खासकर हैदराबाद का महत्वपूर्ण योगदान रहा। कारण जो भी हो 'खड़ी बोली हिन्दी' के साहित्यिक विकास का प्राथमिक चरण अपने जन्म क्षेत्र से बाहर सुदूर दक्षिण में होना आश्चर्य की बात है। हैदर अली और टीपू सुल्तान की केरल के प्रदेशों पर चढ़ाई के कारण वहाँ हिन्दी का प्रचलन हुआ। **ईसा की 12वीं शताब्दी से दक्षिण में 'हिन्दी' बोलचाल की भाषा के रूप में बरार, हैदराबाद, महाराष्ट्र तथा मैसूर प्रदेशों में प्रचलित थी।** इस प्रकार धर्माश्रय व राजाश्रय पाकर प्राचीन काल से संस्कृत व उससे विकसित आधुनिक आर्य भाषाओं का, उत्तरापथ के हिन्दीतर आर्य भाषा परिवार के राज्यों के साथ-साथ दक्षिण के राज्यों में भी स्वाभाविक विकास आधुनिक काल तक जारी है। इस संदर्भ में यह कहना समीचीन ही लग रहा है कि आधुनिक आर्य भाषा 'हिन्दी' के भक्तिकालीन साहित्य में, भक्ति आंदोलन से संबंधित प्रसंग 'भक्ति द्रविड़ उपजि, लाये रामानंद' न रहता तो हिन्दी साहित्य के स्वर्णयुग 'भक्ति काल' की कल्पना तक हम नहीं कर पाते। उक्त प्रसंग सौ प्रतिशत यह कह रहा है कि हिन्दी भाषा-साहित्य की समृद्धि में दक्षिण का योगदान बहुमूल्य है।

धर्माश्रय व राजाश्रय से किसी भी भाषा का विकास स्वाभाविक रूप से होता है। लेकिन लोकाश्रय से विकसित कोई भी भाषा उक्त दो आश्रयों से विकसित किसी भी भाषा से बेहतरीन मानी जाती है। मुसलमानों के शासन का प्रारंभ होने के पहले से ही हिन्दी भारत के उत्तर-दक्षिण के राज्यों को जोड़ने वाली एक अंतर्प्रांतीय भाषा के रूप में प्रचिलत थी। हिन्दी के इस लोकाश्रय रूप को दक्षिण के साथ-साथ पूरे देश में सिद्ध करने में भारत के साधु-संतों और व्यापारी वर्गों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। दक्षिण के प्रमुख बन्दरगाहों और व्यापार केन्द्रों तक आने जानेवाले मारवाड़ी, गुजराती और मुसलमानों के कारण यहाँ हिन्दी में रोजमर्रा बातचीत तथा व्यापार होता रहा। इस प्रकार 'खड़ी बोली हिन्दी' भारत में अंग्रेजों के शासन के प्रारंभ के पूर्व तक एक मुख्य 'जन-भाषा' के रूप में दक्षिण में भी प्रचलित थी। आधुनिक काल तक आते-आते अपने अभिनव अभिव्यक्ति-सामर्थ्य के कारण लोक संवेदना तथा व्यवहार को वहन करने में सक्षम खड़ी बोली हिन्दी ने सारे दक्षिण राज्यों के शिक्षित समाज को आकर्षित करने में सफलता प्राप्त की।

भारतीय संस्कृति की विशेषता हो या राष्ट्रीय आंदोलन के नेपथ्य की राष्ट्रीय भावना हो या राष्ट्रभाषा के प्रति दिलचस्पी हो या पड़ोसी भाषा के प्रति ममता हो, जिस प्रकार हिन्दी शब्द की उत्पत्ति से

लेकर नामकरण, उसके सारस्वत का विकास तथा हिन्दी साहित्येतिहास के लेखन-कार्य तक विदेशी विद्वानों व उत्तर भारत के हिन्दीतर राज्यों की महान मूर्तियों का मौलिक योगदान जिस प्रकार अविस्मरणीय रहा है, उसी प्रकार आधुनिक काल की हिन्दी की विकास यात्रा तथा उसकी समृद्धि में दक्षिण के राज्यों का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

राष्ट्रीय चेतना की दृष्टि से स्वतंत्रता की प्राप्ति के पहले से लेकर स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद सन् 1950 में संविधान राष्ट्रीय राजभाषा के रूप में उसे स्वीकृति मिलने तक सृजनात्मक साहित्य के रूप में, देश के 'क', 'ख' और 'ग' तीनों क्षेत्रों में, अंतरप्रांतीय संपर्क भाषा के रूप में, इलेक्ट्रॉनिक मीडिया, प्रिंट मीडिया तथा विभिन्न प्रसार-माध्यमों के रूप में हिन्दी के राष्ट्रभाषा रूप का ही अधिक विकास संपन्न हुआ है। परंतु अनंतर काल में राष्ट्रीय एकता एवं सांस्कृतिक अस्तित्व की दृष्टि से सन् 1990 तक भारत को एकसूत्र में बाँधनेवाली हिन्दी उक्त रूपों में अब कमजोर दिखाई देने लगी है। वैश्वीकरण के प्रभाव से और अधिक चुस्त-पुस्त होकर कॉर्पोरेट शैक्षणिक संस्थाएँ सार्वजनिक रूप से सरकार के 'त्रिभाषा सूत्र' की बेखातिर करते हुए 'अँग्रेजी भाषा' को अपनाने के कारण हिन्दी के राष्ट्रभाषा-रूप के साथ-साथ राजभाषा के रूप (संवैधानिक रूप) में भी उसे क्षति पहुँचाने से हिन्दीतर राज्यों के साथ-साथ देश के हिन्दी राज्यों में भी उसके दोनों रूपों में प्रयोग करने वाली जनता आहिस्ता-आहिस्ता कम होती जा रही है। दुनिया में अमेरिका के बाद अंग्रेजी बोलनेवालों में भारत द्वितीय स्थान पर है। व्यावसायिक शिक्षा के नाम से अंग्रेजी माध्यम को अपनाने की परंपरा तीव्रगामी होने के कारण कम से कम सांस्कृतिक दृष्टि से ही क्यों न हो अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए देश के राज्य अपनी-अपनी प्रादेशिक भाषा की रक्षा में लग गए हैं।

भाषा के मामले में, देश की ऐसी स्थिति में सारे देश को एक करने के लिए सरकार ने कुछ कठिन मगर महत्वपूर्ण निर्णय लिए हैं। सन् 2015 तक अंग्रेजी में 'प्लानिंग कमिशन' नाम से प्रचलित भारत सरकार की एक महत्वपूर्ण एजेंसी का नामकरण सीधा हिन्दी में 'नीति आयोग' कर देश की पहचान को जताते हुए करना, आंशिक रूप से ही क्यों न हो, भारत के वित्तमंत्री द्वारा हिन्दी भाषा में बजट पेश करना, दक्षिण के हिन्दी विरोधी राज्य तमिलनाडु के राजमार्गों के माईल स्टोन्स के लिए तथा विमुद्रीकरण के बाद मुद्रित नये करेंसी नोटों पर देवनागरी लिपि में हिन्दी-संख्याओं का प्रयोग करना आदि राष्ट्रीय अखण्डता की दृष्टि से आशान्वित करते इसमें कोई संदेह नहीं है कि अहिन्दी राज्य के होकर भी, शासन-प्रशासन-कार्यों में राष्ट्रीय राजभाषा हिन्दी के समर्थन के साथ-साथ उसका प्रयोग करने वाले में श्री नरेन्द्र मोदी जी भारत के प्रधानमंत्रियों अग्रगण्य हैं। 'मन की बात' हो या अन्य राष्ट्रीय अंतरराष्ट्रीय संबोधन हों, हिन्दी प्रांत हों या हिन्दीतर प्रांत हों, प्रधानमंत्री श्री नरेंद्र मोदी हिन्दी में ही अपनी बात कहते हैं, अपवादस्वरूप ही अंग्रेजी में बोलते हैं। यहां तक कि उनके हिन्दीतर प्रांतीय मंत्री व नेता भी हिन्दी में बोलते हैं।

राजभाषा या राष्ट्रभाषा हिन्दी की उन्नति से संबंधित अब तक के सारे कार्य देश के 60 प्रतिशत गैर हिन्दी राज्यों के, उसमें भी दक्षिण के द्रविड़ भाषा परिवार के राज्यों के सहयोग व समर्थन से ही संपन्न हुए हैं। 19वीं सदी के प्रथम चरण से ही देश की आम जनता की भावनाओं, स्पंदनों, चिंतनों, सुख-दुःख, उल्लास-अवसाद तथा संवेदना की सक्षम अभिव्यक्ति करने वाली राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी विद्यमान थी। अंतरप्रांतीय भाषा व राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी को स्वीकारने में दक्षिण के लोगों की सकरात्मक मानसिकता का सदियों का इतिहास है। उसी सकारात्मक दृष्टिकोण व राष्ट्रभाषा के प्रति दिलचस्पी के फलस्वरूप दक्षिण के राज्यों के

विश्वविद्यालयों में भी हिन्दी विभाग खोले गए हैं। आन्ध्र, तेलंगाना, कर्नाटक, केरल राज्यों के प्रतिष्ठात्मक विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा (पोस्ट ग्रेजुएशन) के साथ-साथ तुलनात्मक अध्ययन के क्षेत्र में हिन्दी और दक्षिणी भाषाओं के प्रसिद्ध लेखकों की मौलिक रचनाओं पर मानक शोध-कार्य भी चल रहा है। इन विश्वविद्यालयों से उत्पन्न दक्षिण के हिन्दी विद्वान व साहित्यकारों के सृजनात्मक हिन्दी-साहित्य व अनुवाद-कार्यों का, हिन्दी भाषा साहित्य के विकास, उसकी समृद्धि तथा सांस्कृतिक एकता की दृष्टि से भारत को एकसूत्र में बाँधकर राष्ट्रीय एकता को दर्शाने में अवश्य बहुमूल्य योगदान है, इसमें दो मत नहीं है।

सहायक-ग्रन्थ

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, हरीश प्रकाशन मंदिर, आगरा।
2. प्रयोजनमूलक हिन्दी, विनोद गोदरे, वाणी प्रकाशन।
3. आधुनिक भारत देश चरित्र, तेलुगु अकादमी, हैदराबाद।

यू.जी.सी. शोधोत्तर अध्येता, हिन्दी विभाग,
आन्ध्र विश्वविद्यालय, विशाखापट्टणम-3
मो.-8886995593

●

पृष्ठ 4 का शेषांश ......

संपादकीय

भले ही अब भारत में कोरोना के संक्रमण की रफ्तार कम हो चुकी है, लेकिन इस एक साल में कोरोना ने जिंदगी के हर पहलू को प्रभावित किया। इस संकटकाल में मनुष्य के वे पहलु भी सामने आये जो कर्तव्यनिष्ठा और करुणा से परिपूर्ण थे। हमारे स्वास्थ्यकर्मियों, सफाईकर्मियों, पुलिसकर्मियों और इसी तरह के अन्य लोगों ने अपने कर्तव्य को पूर्ण निष्ठा से निभाया। कितने ही समाजसेवी लोग सामने आये जिन्होंने उस समय भूखे-प्यासे मनुष्यों की ही नहीं जीव-जंतुओं की भी मदद की। शंकराचार्य ने कहा था कि यह संसार केवल एक अभास है, ब्रह्म का बिम्ब मात्र है। कोरोना ने जीवन की बहुत सी गतिविधियों को ऑनलाइन कर आभासी (वर्चुअल) बना दिया। खेती के समय में जानवरों के मुंह पर छींकियां बांधी जाती है जिससे वे फसल न चर जायें। कोरोना में आदमी को मुंह पर छींकियां रखना जरूरी कर दिया। आधुनिककाल, एक तो वैसे ही व्यक्तिवाद का जमाना, कोरोना ने भयभीत कर दिया सामाजिकता से, पहले जीवनयापन के लिए सामाजिकता जरूरी थी अब जीवन बचाने के लिए सामाजिक दूरी अर्थात आदमी से आदमी की दूरी जरूरी है। पहली बार पता चला कि इस तरह भी जीवनयापन हो सकता है। आपदा कष्टकारी होती है पर साथ ही अनुभव भी होती है। पता नहीं कब तक परिस्थितियां सामान्य होंगी, तब तक ही नहीं अपितु भविष्य में भी इस अनुभव को याद रखना है।

कोरोना काल के दबाव में वैचारिकी के अंक विलम्ब से प्रकाशित हो रहे हैं, चेष्टा है कि शीघ्र ही समय पर प्रकाशित होने लगेंगे। वैचारिकी के अगले किसी अंक से **'सृजन'** स्तम्भ में हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के प्रतिष्ठित रचनाकारों की रचनाएं हिन्दी में प्रकाशित करने की योजना है। वैचारिकी के सुधी पाठकों से अनुरोध है कि इसके लिए आपकी पसंदीदा कविता, कहानी, संस्मरण, यात्रावृत्त आदि भेजने का कष्ट करें।

- डॉ. बाबूलाल शर्मा

राजस्थान की हिन्दी कहानी : एक परिचय

वन्दना शर्मा

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय इतिहास में 1960 के बाद चीन आक्रमण ने एक नयी भाव भूमि विकसित की। सपने टूटे, आस्थाएँ डगमगाई और मोहभंग की स्थितियां बनी। 1956 में उभरी नयी कहानी से अलग अहसास साठोत्तरी कहानियों में अनुभव किया जाने लगा। कमलेश्वर ने सैक्स पर आधारित कहानियों को ऐयाश प्रेतो का विद्रोह कहा है (धर्मयुग 28-5-68) जिससे यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र भी प्रभावित हुए बिना न रह सके। उनकी **एक सही स्वीकृति** इसी प्रकार की कहानी है। पानू खोलिया की **पहली आवाज** में पिता के जलते शव की मांस गंध के अनुभव के बीच भावी पत्नी में पहली औलाद का बीजारोपण तथा मणिमधुकर की **भरतमुनि** के बाद में **वृद्ध पिता का हस्त मैथुन** ऐसी ही कहानियां हैं। समकालीन यथार्थवादी कहानीकार राम जयसवाल ने **समय दंस, उग्र** और **असुरक्षित** कहानी संग्रहों में इंसानी दर्द, स्त्री पुरुष का आकर्षण, घुटन एवं वैमनस्य की यथार्थ स्वीकृति प्रस्तुत की है जिसमें मानवीय संवेदनाओं के चित्रों को उकेरने का प्रयास किया है, वह श्लाघनीय है।

राजस्थान में साठोत्तरी पीढ़ी ने पारिवारिक कटुता को भी टटोला है, (मन्नु भण्डारी), व मणि मधुकर की **चुपचाप दुख, हवा में अकले,** उजाड़ और अधमरे, फरिश्ते; ईश्वर यन्दर की **अन्दर का बौनापन, न मरने का दुःख;** स्वयं प्रकाश की **मात्रा और भार,** सूरज कब निकलेगा, हेतु भारद्वाज की **एक पल का सुख, सुबह-सुबह, जमीन से हटकर तीन कमरों का मकान,** पानु खोलिया की **पेड़,** दण्ड नायक अशोक; आत्रेय की **मुद्राराक्षस**, गोल नहीं है धरती; योगेन्द्र किसलय की बरना-कंजर; मोहर सिंह यादव की **मिलावट, दो बीघा जमीन,** राम जयसवाल की **समयदंश;** शर्चींद्र उपाध्याय की **झुकी हुई दिशा** में स्त्री पुरुष संबंधों के बीच होने वाले रिश्तों में कड़वाहट को साठोत्तरी युग की कहानियों में शामिल कर सकते हैं जिन्होंने अपनी पहचान बनाई।

डॉ. भवरलाल जोशी के सम्पादन में मधुमती (राजस्थान साहित्य अकादमी) पत्रिका का सितम्बर 1980 का अंक प्रकाशित हुआ जिसमें सातवें और आठवें दशक के हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत कहानी पर भी विचार किया गया। हेतु भारद्वाज ने अपने आलेख-राजस्थान में हिन्दी कहानी : दो दशकों की यात्रा में स्पष्ट किया है कि, प्रेमचन्द से पूर्व चन्द्र धर शर्मा गुलेरी की

"उसने कहा था" ने अपना विशिष्ट स्थान बनाया। पुरानी पीढ़ी के कहानिकारों में शम्भुदयाल सक्सेना, ओंकार नाथ, दिनकर रामधारी सिंह, माधव प्रसाद शर्मा, विष्णु अम्बालाल जोशी प्रसाद युगीन कहानीकार थे, इनकी कहानियों में दो बातें स्पष्ट दृष्टिगोचर होती हैं।

1. घटनाओं के नाटकीय संगठन का व्यापक स्वरूप

2. वायवी आदर्शीकरण मिलता है जो भावी पीढ़ी का मार्गदर्शक है।

विष्णु अम्बालाल जोशी की **गुमटीवाला** में मानवीय सम्बन्धों को साम्प्रदायिकता की भूमि पर तटस्थ दृष्टि से देखा गया है जो युगीन परिवेशगत चुनौतियों की खुली दास्तान को प्रस्तुत करती है।

स्वतन्त्रता के पश्चात् हिन्दी कहानी का गुणात्मक और परिमाणात्मक विकास हुआ। प्रेमचन्द्र की कफन, पूस की रात जैसी कहानियों ने राष्ट्र स्तर पर कठोर जमीन दी और साथ ही नई कहानी आन्दोलन भी नई सम्भावनाओं के साथ उभरा। राजस्थान में रांगेय राघव ने प्रेमचन्द की परम्परा को आगे बढ़ाया उनकी **गदल** कहानी चर्चित रही। उन्होंने मानव जीवन के यथार्थ को चित्रित करने वाली **घिसटता कम्बल, पंच परमेश्वर, एक छोड़ एक, गदल** जैसी सशक्त कहानियां लिखी। उनकी कहानी **कुत्ते की दुम** और **शैतान** को नई टेक्नीक वाली प्रयोगशील कहानी माना जाता है। आलम शाह खान की **आवाज की अर्थी,** मनोज कुमार की **अंतराल,** नरेन्द्र चतुर्वेदी की **अपना-अपना सुख,** शीर्षक कहानियों में निरंतर बढ़ती बेराजगारी के यथार्थ को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार अन्य साहित्यकारों की कहानियों में विविध प्रकार की विचारधाराओं का सम्यक स्वरूप दृष्टिगोचर है और उनमें दो बातें विशेष परिलक्षित होती है -

1. पुराने को छोड़ने की आतुरता ।

2. नए को ग्रहण करने की छटपटाहट थी।

उन्होंने सामाजिक मूल्यों में आए परिवर्तन को (संघर्ष को) ईमानदारी से अपनी कथाओं में उभारा और संस्कारों के शोषण के जाल में फंसी नारी के स्वतन्त्र व्यक्तित्व को खोजने का साहस किया। साथ ही **ऊँचाई, यही सच है चश्में, अकेली, नशा, त्रिशंकु** में, सामाजिक आक्रोश घुटन निराशा मशीनीकरण जीवन की भागमभाग तथा मार्क्सवादी अवधारणा से जुड़े यथार्थ को गति प्रदान की।

यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र ने राजस्थान के जन-जीवन को कहानियों में प्रस्तुत किया, उनमें सहजता, सरलता, स्पष्टता उनके विशिष्ट गुण हैं तथा इनकी कहानियों में मानवीय संवेदनाएं- **राम की हत्या, एक देवता की कथा, उस्मानिया अजीबदास** आदि में मिलती है। मोहन सिंह सेंगर तथा शरद देवड़ा की कहानियों में समस्याओं की प्रधानता, विद्रोह का स्वर, नग्न यथार्थवाद है जिसे प्रगतिवादी विचार धारा से जोड़कर देखा गया है। शरद देवड़ा की **मास्टरनी बाई, भूख, खिड़की की चौखट** ऐसी ही कहानियां हैं।

साठोत्तर काल में सुमेर सिंह दईया की कहानियों में भावुकता व मार्मिकता उजागर हुई है। **भूखी डायन, नागिन और सपेरा** प्रतिनिधि कहानी है। राजानन्द की **राहत** में अकाल की त्रासदी की अभिव्यक्ति है। **दरो दीवार पर, जिन्दगी** और **ताश के पत्ते, स्वभाव** के कारण उनका अपना स्थान बना। इस यात्रा को सुदर्शन बाली शान्ता बाली ने **अपने-अपने कोण,** प्रेमचन्द गोस्वामी ने **एक वृत** और **एक मुस्कराहट कल की** शुभु पटवा की **रवात रावत**, नफीस आफरीदी की **कास,** हर्ष की **आदमी और आदमी** मील के पत्थर के समान चर्चित रही।

मणि मधुकर राष्ट्रीय स्तर पर चर्चित हुए, **भरत मुनि** के बाद, **एक वचन बहु वचन, हवा में अकेले में** प्रयोगशीलता रही। वे स्त्री-पुरुष को यौन चित्रण की तरफ ले जाने वाला झुकाव रखते रहे हैं। अशोक आंत्रेय, ईश्वर चन्दर, कमर मेवाडी, आलम शाह खान, राम जैसवाल, मोहर सिंह यादव ने इस परम्परा

को समृद्ध बनाया है।[1]

सूरज कब निकलेगा स्वयं प्रकाश की एक ऐसी कहानी है जिसमें-- भेराराम और सुगनी बाढ़ में घिरकर कड़ा संघर्ष करते हैं। अपने बच्चे को खोकर जान की बाजी जीत लेते हैं। **आवाज की अरथी** आलम शाह की कहानी है जिसमें नरसिंह जब आवाज को रामगोले से रुंधा पाता है तो धर्म और भगवान के खिलाफ बोलता है, दोनों कहानियों में विद्रोह है।

स्वयंप्रकाश की सूरज कब निकलेगा में-- "असहाय के सहाय बने जो भगवान, अपने भक्तों के लिए नंगे पैर दौड़ पड़ते थे, गोवर्धन पर्वत को उंगली पर उठा लेते थे, वह अब मेरे राम की गुहार नहीं सुनते, तो मेरा राम भी उनकी परवाह नहीं करता अब उसे किसी भगवान-वगवान का भरोसा नहीं रहा।

आलम शाह खान आवाज की अरथी में लिखते हैं "अरे भगवन ! जावे कहां... तू अंधी है जो मैं तेरे को बजरंग बली दिखूं, नरसिंघा... ने राम बीज हैं कहके खजूर की गुठली ? ...तुम जैसे ढोंगियों ने ही मेरे मुँह में गोला ठुसवाया, मेरी आवाज को मारा है, मैं तेरी भी लंका को आग लगा दूंगा... सोचिये भक्तों की लंका में आग लगेगी तो भला भगवान कैसे बचेंगे ?[2]

जहाँ ईश्वर का अस्तित्व खतरे में है वहाँ पर नैतिकता-ईमानदारी, राजनैतिक चक्कर में उलट जाती है और हेतु भारद्वाज की कहानी **अब यही होगा** में पैसा लेकर भी व्यक्ति बोट नहीं देता है।[3] नौवें दशक में ईश्वर चन्दर-- **सख्त चेहरे वाला आदमी** व **न मरने का दुःख** से चर्चित हुए।[4] न मरने का दुःख कहानी में मां बीमार है, बचने की उम्मीद नहीं बेटा उसके क्रियाकर्म के लिए लोन निकलवाता है लेकिन माँ बच जाती है, रकम गृहस्थी पर खर्च हो जाती है "तब बेटे को दुःख है जब माँ मर जाएगी, उसके क्रियाकर्म के लिए पैसे कैसे जुटाए जाएंगे ?"

मोहर सिंह की **सुराग** और **बिजली आ गई** में दाम्पत्य भाव का खरा अंकन है। सुराग में हरजी को ठाकुर साहब कहते हैं "तेरे पास रुपये पैसे नहीं हैं तो मेरे कने तेरी घरवाली को ले आ। दस पाँच दिन में वसूल कर लूंगा सारी रकम।" हरजी के बदन में आग लग जाती है और वह खाली बोतल उठाकर ठाकुर के सिर पर दे मारता है। पति-पत्नी के सम्बन्धों की विकृतियां-- मन्नु भण्डारी की **उँचाई**, ईश्वर चन्दर की **उसका होना**, हेतु भारद्वाज की **असमानान्तर** में हुई है। जो राजस्थानी सांस्कृति परिवेश की झलक को भी प्रस्तुत करती हैं।

राजस्थान की महिला कथाकारों की कहानियां

राजस्थान की महिला कथाकारों की कहानियों में प्रभा सक्सेना, क्षमा चतुर्वेदी, चन्द्रकान्ता कक्कड़, पार्वती जोशी, शशिबाला शर्मा के नाम प्रतिनिधि रूप में गिनाए जा सकते हैं।

प्रभा सक्सेना निरन्तर टूटने वाली नारी का चित्रण करती हैं और नारी संघर्ष के भविष्य की सम्भावनाओं पर भी प्रकाश डालती हैं। क्षमा चतुर्वेदी की कहानी **सूरज डूबने से पहले** में नारी द्वारा जमीन तोड़ने के प्रयास हैं, युग की यांत्रिकता परक संवेदनाएं है। परिवारों की टूटन-घुटन व त्रासदी को प्रकट करती है। सूरज डूबने से पहले में माँ-बाप को बेटे से मिली उपेक्षा है, **माँ कहो माँ** में विमाता की धारणा की समाप्ति है। इन कथाकारों ने जीवन का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है वह आंचलिक संस्कृति के यथार्थ को दर्शाता है। महिला कथाकारों की कहानियों में -

1. नारी जीवन की विषमताओं,

2. नारी जीवन के विक्षोभ,

3. नारी जीवन की पीड़ाओं, विसंगतियों को परिभाषित किया गया है।

चन्द्रकान्ता कक्कड़ की **सूनी राखी** में नारी अन्तर्मन की अनुभूतियों का कथ्य है।

पुरुष का नारी को बन्धन में जकड़कर स्वयं मुक्त रहने का षडयंत्र है।

चमेली मिश्र- **"स्मृति की दीप शिखा"** में दो महिलाओं का चित्रण करती है जो पुरुष द्वारा प्रदत

आर्थिक और सामाजिक दासता से मुक्ति पाने की हिम्मत रखती हैं।[5] लीला शर्मा की **राष्ट्रीय पशु** कहानी में गरीब आदमी होने से बेहतर कुत्ता होने को बताया गया है। यह भ्रष्ट व्यवस्था को उजागर करने वाली कहानी है।[6] सावित्री परमार की **काले द्वीप** भी ऐसी कहानी है जबकि **फागुनी धूप** प्रेम के ताने बाने पर आधारित है। क्षमा चतुर्वेदी की **अपने हिस्से की धूप** में नारी का सजग स्वाभिमान प्रस्तुत है जबकि **सूखा हुआ सागर** में अर्थ-स्वार्थ की मनोवृति स्पष्ट परिलक्षित है।

राजस्थान का महिला लेखन : एक परिदृश्य शीर्षक से राजस्थान साहित्य अकादमी द्वारा 1992 में एक पुस्तक दयाकृष्ण विजय के संपादन में प्रकाशित हुई जिसमें 8 महिला कथाकारों की कहानियां हैं -

1. चार अंगुल की जीभ	सुमन मेहरोत्रा
2. अनाम रिश्ते	क्षमा चतुर्वेदी
3. पागल	उषा माहेश्वरी
4. गुरुमंत्र	सरला अग्रवाल
5. बसेरा	सुदेश बत्रा
6. आत्मीयता	सरस्वती माथुर
7. अस्वीकृति	ज्योत्सना इन्द्रेश
8. वह हँसने वाली लड़की	पुष्पलता कश्यप ।[7]

जीने के लिए जो चाहिए वह तभी हो सकता है जब देने वाला प्रेम से दे।

वरना जीवन निरन्तर चलने वाला युद्ध स्थल बनकर रह जाएगा।[8]

राजस्थान में महिला साहित्यकार पर्याप्त सक्रिय हैं। डॉ प्रभा सक्सेना ने **पैंतीसवी मंजिल** कहानी में दीपा की आर्थिक तंगी का वर्णन शशी प्रभा शास्त्री की कहानी के द्वारा प्रस्तुत किया है। चार अंगुल की जीभ (सुमन मेहरोत्रा) कहानी में सविता कहती है "अधिकारों को छीन लेने से अधिकार मिल तो जाते है पर जीवन नहीं'।' -

क्षमा चतुर्वेदी ने अनाम रिश्ते कहानी में शारदा बाई के रूप में वृद्ध व्यक्ति की देखभाल करने वाली नौकरीपेशा की उदात्तता का परिचय दिया है, कहती हैं- "जब बाबूजी ही नहीं रहे तब उनका मकान लेकर क्या करूंगी।[9] उषा माहेश्वरी ने कमला बाई में नारी विवशताओं का अंकन किया है, उसे पागल कहा जाता है, दुःखों के पहाड़ झेलती है, आघात पहुँचाए, ससुराल वालों ने उसे कभी अपना नहीं समझा। अंजली को सौतन की औलाद कहकर प्रताड़ित किया गया। वह अनाथ हो गई।[10] **बसेरा** कहानी सुदेश बत्रा की है जिसमें एक छोटा-सा मकान बनाने के लिए संघर्ष की कथा है। सरस्वती माथुर की **आत्मीयता** में कमली के प्रति सुशांत अर्पिता है। पुत्री खुलकर वैवाहिक सम्बन्धों की बात करती है। विवाह को गंभीर दायित्व कहा गया है। अपने से बीस साल बड़े सुशांत से विवाह करने की चाहत है। नारी मन की उदासी लम्बी शामों, वीरान दुपहरियों, उदास सुबहों में व्यक्त होती है, उन बदसूरत चीलों की तरह जो ऊपर मंडराती हैं।[11] ज्योत्सना इन्द्रेश की **अस्वीकृति** में कन्या भ्रूण हत्या वाला कथानक है। अरुणा कहती है मैं कहीं कोई टेस्ट-वेस्ट कराने वाली नहीं। इसमें नारी विवशता कृशकाय अधेड़ उम्र कांतिहीन सूखा चेहरा से व्यक्त होती है।[12] आखों के नीचे स्याह घेरे, बालों में सफेदी, नारी जो स्नेह और अपनेपन का ताप पाकर पिघलती है वही विवशताओं की मार सहती है, विद्रोह का अहसास मर सा जाता है, टूटन मन की भी होती है लेकिन सन्देश भी देती है कि नारी जीवन मूल्यवान है ईश्वर की अनमोल अमानत है इसे व्यर्थ करने का हमें हक नहीं।[13]

1989 में राजस्थान साहित्य अकादमी ने **तपती धरती का पेड़** शीर्षक से हेतु भारद्वाज के संपादन में 19 कहानिकारों कथा संकलन प्रकाशित किया है। जिसमें निम्नांकित कथाकारों की कहानियां हैं -

अशोक आत्रेय	अनस्तित्व
हरदर्शन सहगल	भविष्यकांत
हसन जमाल	इधर मत बहो हवा
प्रभा सक्सेना	धारा के विरुद्ध

शीतांशु भारद्वाज	घर घुसेरू
मोहर सिंह यादव	एक और द्रोपदी
शुभु पटवा	अदीठ
रामानंद राठी	रूक्का
मालचंद तिवारी	वरुण
सूरज पालीवाल	श्रवण की वापसी
श्याम जांगिड़	नाटक
सत्यनारायण	हे राम
अशोक सक्सेना	एल.टी.सी.
माधव नागदा	उसका दर्द
कमलेश शर्मा	किस्तुरी का बेटा
पुष्पा रघु	पेड़ तो कट गया
चेतन स्वामी	पानी तेरा रंग
चन्द्र कान्ता कक्कड़	डायमंड दुनिया
रघुनन्दन त्रिवेदी	वह लड़की अभी जिंदा है।

1993 में राजस्थान के हिन्दी साहित्य में कहानी नामक डॉ. भेरूलाल गर्ग का विशद आलेख प्रकाशित हुआ जिसमें लगभग 70 कहानीकारों को स्थान दिया गया है। राजस्थान में कहानी की समृद्ध विधा है जिसमें अनगिनत कथाकार हैं जिनके लेखन ने समाज में व्याप्त विसंगतियों व महिला संघर्ष के विविध रूपों तथा विभिन्न समस्याओं को उजागर किया है भावी पीढ़ी का मार्ग प्रशस्त कर, विद्वान कथाकारों की कहानियों में निहित सन्देश ने जनमानस को प्रेरणा दी रहे हैं।

संदर्भ

1. यादव राजेन्द्र-एक दुनिया सामानान्तर, पृष्ठ संख्या 47/12।
2. भारद्वाज हेतु- मधुमती, राजस्थान में हिन्दी कहानीः दो दशकों की यात्रा पृ. 25-29।
3. यादव राजेन्द्र- एक दुनिया सामानान्तर पृ.106।
4. सुमन मेहरोत्रा- चार अंगुल की जीभ, राजस्थान का महिला लेखन एक परिदृश्य पृ. 68।
5. क्षमा चतुर्वेदी - अनाम रिश्ते पृ. 80।
6. उषा माहेश्वरी - पागल पृ. 81-84।
7. सरस्वती माथुर - आत्मीयता पृ. 97।
8. ज्योत्सना इन्द्रेश - अस्वीकृति पृ. 102।
9. पुष्पलता कश्यप - वह हंसने वाली औरत पृ. 103।
10. मन्जु चतुर्वेदी का लेख, वही पृ. 105।
11. सं.दया कृष्ण विजय - राजस्थान का महिला लेखन- एक परिदृश्य, मधुमति राजस्थान साहित्य अकादमी उदयपुर 1992।
12. सक्सेना डॉ. प्रभा-कथा साहित्य के सन्दर्भ में नवें दशक की लेखिकाओं का मूल्यांकन पृ. 4।
13. वही पृ. 117, जिसे नारी को न चाहकर भी स्वीकार करना पड़ता है। इस संग्रह में मध्यमवर्गीय नारी यातना की विशेष भंगिमाओं का अंकन है।
14. वाजपेयी प्रभा - हिन्दी लेखिकाओं की रचना धर्मिता एवं हिन्दी लेखन की टूटती परम्परा, वही पृ. 99-100।
15. खान आलम शाह - राजस्थान की हिन्दी कहानी में अभिव्यक्त जीवन मूल्य, मधुमती जुलाई अगस्त 1984 पृ. 114 -115।
16. वही पृ. 115।
17. वही पृ. 116।

शोध केन्द्र
राजकीय महिला महाविद्यालय, करोली
कोटा विश्वविद्यालय कोटा,
मो.- 9461652317

कुछ न करना पाप करना है।

- प्राचीन कहावत

प्रकृति अपनी उन्नति और विकास में रुकना नहीं जानती और अपना अभिशाप प्रत्येक अकर्मण्यता पर लगाती है।

- गेटे

खानखाना एक रामचन्द्र जू के तीर सों

प्रो. हरीश कुमार शर्मा

हिन्दी के भक्ति-साहित्य में जब हम मुस्लिम सन्तों के योगदान को देखते हैं तो बरबस ही भारतेन्दु जी के इस कथन की याद आती है। -'**इन मुसलमान हरिजनन पै केतिक हिन्दू बारियै।**' हिन्दी ही नहीं, उर्दू तक में ऐसे अनेक मुस्लिम शायर हुए जिनकी रचनाएं आज के संकीर्ण मतवाद वाले समय में पढ़कर मन दंग भी रह जाता है, गर्व और उल्लास से भी भर उठता है और फिर अपने वर्तमान पर सोचते हुए खिन्न भी होने लगता है। भक्तिकाल की निर्गुण और सगुण दोनों काव्यधाराओं के अन्तर्गत काव्य-रचना करने वाले अनेक कवि हुए। सगुण काव्यधारा में कृष्ण-भक्ति का रंग तो देश भर में कुछ ऐसा फैला कि धर्म, जाति, क्षेत्र, भाषा आदि के दायरों को तोड़कर बहुतों के ऊपर चढ़ गया। रसखान, ताज ऐसे ही रचनाकार थे। परन्तु राम-भक्ति काव्य का असर भी मुस्लिम रचनाकारों पर कुछ कम नहीं पड़ा। कितने ही रामकथापरक ग्रन्थों एवं कविताओं की रचना उर्दू में हुई है जिनमें राम के प्रति श्रद्धा और सम्मान की भावना मुसलमान रचनाकारों, शायरों द्वारा प्रकट की गयी है।

हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल में योगदान देने वाले मुस्लिम कवियों की संख्या काफी है। सूफियों की तो पूरी एक काव्य-परंपरा ही है- प्रेमाख्यानक काव्यों के रूप में, जिसमें उन्होंने हिन्दू राजाओं से जुड़ी कथाओं को लेकर काव्य रचे और पूरी सहृदयता के साथ हिन्दू धर्म-संस्कृति का चित्रण किया। संत-काव्य के अंतर्गत भी अनेक रचनाकार सामने आये, जिन्होंने व्यापक दृष्टि अपनाते हुए संकीर्ण मत-मतांतरों से ऊपर उठकर बात कही। इतना ही नहीं, सगुण भक्ति काव्य की परम्परा में भी कुछ उल्लेखनीय नाम निकलकर सामने आते हैं जो पूरी तरह इस भक्ति-भाव में रंग गए। लेकिन, इसी भक्तिकाल में एक ऐसे महत्वपूर्ण रचनाकार भी हुए जो किसी खांचे में फिट नहीं बैठते और सबमें समा जाते हैं। वे निर्गुण के भीतर भी फिट होते हैं और सगुण के चौखटे में भी समाते हैं। राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति दोनों के प्रति उनके मन में श्रद्धा और सम्मान का भाव है। साथ ही वे एक पूर्ण आस्थावान मुसलमान भी हैं। ऐसे रचनाकार रहीम हैं- **अब्दुर्ररहीम खानखाना; जिनकी लोकप्रियता भक्तिकाल के अन्य कवियों से किसी मायने में कम नहीं है। जितने बड़े युद्धवीर, उससे भी बड़े दानवीर। जितने कुशल राजनीतिज्ञ, उससे भी सफल कवि। जितनी बड़ी ख्याति अकबर के नवरत्न के रूप में, उससे भी अधिक लोकप्रियता जनता के कवि के**

रूप में। जितनी आस्था अपने मजहब पर, उससे भी अधिक उदार श्रद्धा हिंदू देवी-देवताओं पर। भक्ति-साहित्य की अधिकतर विशेषताएं उनके काव्य पर घटित हो जाती हैं तो उससे कुछ अलग लिखा हुआ उनको भक्त कवियों से भी आगे ले जाता हैं, जितनी ऊंची उन्होंने पदवी पाई, उससे अधिक उन्होंने लघुता को सम्मान दिया। जितना दुख जीवन में भोगा, उससे अधिक दूसरों के दुख को समझा। निजी जीवन में बड़े-से-बड़े दुख के प्रति जितने सहनशील, दूसरे के दुख के प्रति उससे अधिक द्रवणशील। उनकी रचनाओं में अनेक अनुभव बोलते हैं। जितने अरबी, फारसी, तुर्की भाषाओं के जानकार, उससे कम ज्ञाता संस्कृत और हिंदी के नहीं। उस समय की प्रचलित दोनों प्रमुख भाषाओं ब्रज और अवधी में उन्होंने तुलसी की ही भांति समान अधिकार से रचना की। विभिन्न छंदों और शैलियों को अपनाया और विविध भावपरक काव्यों का सृजन किया है।

स्वर्ण-युग कहे जाने वाले हिन्दी साहित्य के भक्ति-युग का निश्चय ही एक चमकीला अध्याय कवि रहीम हैं। अकबर के दरबारी नवरत्नों में से एक, अब्दुर्ररहीम खानखाना हिंदी-काव्य के भी एक द्युतिवान रत्न हैं। लोकप्रियता में रहीम भी अपने समकालीन कवियों से कहीं पीछे नहीं हैं। भक्ति-साहित्य ही नहीं, नीति साहित्य की अधिकांश विशेषताएं-अहंनिरपेक्षता, उदार दृष्टि, जीवन-शैली की सादगी, समन्वयवादिता, भक्ति-भावना, मानवतावाद, प्रेम, शृंगार, दर्शन, नीति आदि सभी उनके जीवन और काव्य में देखे जा सकते हैं, गो कि वे मध्यकाल के सर्वाधिक वैभवशाली सामंती जीवन से जुड़े हुए थे। भारतीय जीवन-मूल्यों एवं दर्शन का उन्होंने अपने काव्य में सदाशयी चित्रण ही नहीं किया, अपितु उनके प्रति अपनी उदार आस्था भी दिखाई है। हिंदू-मुस्लिम धर्म-संस्कृति में संबंध स्थापित करने की दृष्टि से भी उनका कार्य बड़ा है और वे इस कार्य को करने के लिए सन्तों की भांति डांट-फटकार वाली शैली का आश्रय नहीं लेते, अपने काव्य से प्रेम का धागा निर्मित करना चाहते हैं और उस धागे के द्वारा सबको मेल-मुहब्बत, एकता, भाईचारे के मजबूत बंधन में बाँधना चाहते हैं। उनके काव्य में जो विषयों की विविधता और दृष्टि की व्यापकता है, जीवन दर्शन की जो उदारता और व्यावहारिकता है, वह उन्हें कई भक्त कवियों से बड़ा बनाती है। भाव और शिल्प दोनों ही के क्षेत्र में उन्होंने नवीन प्रयोग किए हैं। **बरवै जैसे छंद के जनक रहीम कहे जाते हैं। संस्कृत में भी उन्होंने पद्य रचे हैं। एक से अधिक भाषाओं को मिलाकर काव्य-रचना करने जैसे अनूठे प्रयोग भी उन्होंने किये हैं।** तुलसीदास से उनकी मित्रता थी और सम्भवतः उन्होंने उनसे प्रभाव भी काफी ग्रहण किये हैं। राजनैतिक छल-छद्म, प्रशासनिक जिम्मेदारियों एवं अन्य व्यस्तताओं के कारण उन्हें उतना समय नहीं मिल पाया, अन्यथा काव्य सृजन क्षमता में वे कम नहीं हैं। फिर भी **भावगत वैविध्य और भाषा एवं शिल्प सम्बन्धी प्रयोगों में अगर उन्हें भक्तिकाल के किसी कवि के साथ खड़ा करना ही पड़े, तो वे तुलसीदास ही हो सकते हैं।**

रहीम न तो सूफी कवियों की सूची में गिने जाते हैं, न संत कवियों की श्रेणी में रखे जाते हैं। तथापि न उनका महत्त्व किसी सन्त से कम है और न उनका अवदान किसी सूफी से कम है, अपितु एक कदम आगे ही है। सन्तों का काव्य भारतीय धर्म-संस्कृति में रचा-बसा हुआ होने पर भी वहां उसके प्रति कुछ नकार का भाव है तो कुछ स्वीकार का। पर रहीम की विशेषता यह है कि उनके यहां नकार नहीं स्वीकार ही-स्वीकार है। इसी तरह सूफियों ने जहां हिन्दू-धर्म-संस्कृति का चित्रण सम्मान, उदारता और सहानुभूतिपूर्वक किया है, वहीं रहीम ने श्रद्धा, अधिकार और अपनत्व के साथ। रसखान की तरह रहीम किसी हिंदू आचार्य से सगुण भक्ति में दीक्षित

भी नहीं हुए। फिर भी उन्होंने हिंदू देव-देवियों के प्रति जो श्रद्धा अपने काव्य में प्रकट की है, वह आज लोगों के सीखने की चीज है।

आज जबकि वंदे मातरम, राष्ट्रगान, भारत माता की जय जैसी बातों को लेकर धर्म के नाम पर विवाद खड़े किए जा रहे हैं, यहां तक कि अति उत्साही लोगों को कभी भारत को हिंदुस्तान कहने में सांप्रदायिकता नजर आती है, तो कभी कोई केंद्रीय विद्यालयों में बच्चों द्वारा की जाने वाली प्रार्थना को लेकर न्यायालय में चला जा रहा है, तब रहीम याद आते हैं और उनका, उनके काम का, उनकी सोच का महत्त्व समझ में आता है। कितने ही पद्यों में उन्होंने हिन्दू पौराणिक संदर्भों का हवाला तो अपने काव्य में दिया ही है, प्रत्यक्ष श्रद्धा भी विभिन्न देव-देवियों के प्रति व्यक्ति की है। उनका हिंदू धर्म-दर्शन संबंधी ज्ञान मात्र सुना-सुनाया भर का नहीं था, अपितु संस्कृत के गहरे जानकार होने के नाते पढ़ा-गुना ज्ञान था। रहीम की इस उदारता को अकबर के दीन-ए-इलाही का प्रभाव कहें या मातृ-पक्ष की देन या उनकी निजी विशेषता, पर यह उस युग में, वह भी एक प्रभावशाली राजनीतिज्ञ और योद्धा द्वारा, थी बड़ी बात और आज भी बड़ी बात ही मानी जाएगी। उनके काम और उनकी सोच का महत्त्व तब हमें और भी विशेष नजर आता है, जब उन्हीं के समकालीन हजरत शेख अहमद सरहिन्दी जैसे कट्टर सोच वाले लोगों और उनके दुष्प्रयासों को देखते हैं। दिनकर जी ने अपनी पुस्तक **'संस्कृति के चार अध्याय'** में इन हजरत के बारे में लिखा है- 'वह केवल कट्टर मुसलमान ही नहीं, प्रत्युत, इस्लामेतर धर्मों का प्रचण्ड विरोधी भी था। इस्लाम को वह सभी धर्मों, सभी संस्कृतियों के प्रभाव से मुक्त रखना चाहता था।...लगभग चार सौ वर्षों के सम्मिलित जीवन में मुसलमानों ने हिन्दुओं से जो भी आदतें सीखी थीं, शेख सरहिन्दी उन सबको गुनाह समझता था। उसका उपदेश था कि भारत के मुसलमानों को ठीक उसी प्रकार से रहना चाहिए, जैसे मुहम्मद साहब के समय में अरब में मुसलमान रहा करते थे और उन्हें सतर्क रहना चाहिए कि हिन्दुस्तान में बसने वाले बहुसंख्यक गैर-मुस्लिमों की आदतें उनके भीतर न समा जायें। हिन्दुओं से शेख अहमद को भयानक विद्वेष था। वह उन्हें काफिर समझता था और उसका विश्वास था कि काफिरों के दलन और अपमान से बढ़कर भगवान को प्रसन्न करने का और कोई उपाय नहीं है।' (पृ. 286-87)।

डॉ. बच्चन सिंह ने अपने **हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास** में लिखा है-"रहीम न तो जायसी की तरह सूफी थे और न रसखान की तरह वैष्णव संप्रदाय में दीक्षित, पर भारतीय संस्कृति के प्रति उन्हें गहरा अनुराग था। सांप्रदायिकता कहीं छू भी नहीं गई थी। मुसलमान होते हुए भी हिंदू देवताओं का श्रद्धापूर्वक स्मरण तथा पौराणिक गाथाओं का संदर्भण इस देश की संस्कृति के प्रति उनकी आस्था का सूचक है।" (पृष्ठ-160)। आगे भी वे लिखते हैं- "सुदामा, भृगु, हनुमान, लक्ष्मी, गंगा, रावण आदि के अनेक संदर्भ जहां-तहां जड़े-पड़े हैं। रहीम की विशेषता यह है कि इन संदर्भों को वे अनुभूत जीवन से जोड़कर नए मानवीय मूल्यों की सृष्टि करते हैं।" (पृष्ठ-161)।

बात सिर्फ इतनी भर नहीं है। संदर्भों के रूप में तो बार-बार राम-कृष्ण आदि से जुड़े प्रसंग और नाम उनकी कविता में आते ही हैं- -**'जो रहीम भावी कतौं, होति आपुने हाथ। राम न जाते हरिन संग, सीय न रावन हाथ।'** या **'जे गरीब को आदरैं, ते रहीम बड़ लोग। कहा सुदामा बापुरो, कृष्ण मिताई जोग।** या फिर **'अब रहीम मुश्किल पड़ी, गाढ़े दोऊ काम। सांची से तो जग नहीं, झूठै मिले न राम।'** परन्तु उन्होंने तो प्रत्यक्ष वंदना भी की है। यह छोटी बात नहीं है। उदाहरण स्वरूप दोहावली में लिखे गए ये दोहे देखें--

ते रहीम मन आपनो, कीन्हों चारु चकोर।

निशि वासर लागो रहै, कृष्ण चंद की ओर।।

या

अच्युत चरण तरंगिनी, शिव सिर मालति माल।

हरि न बनायो सुरसरी, कीजै इन्दव भाल।।

बरवै नायिका भेद के मंगलाचरण में उन्होंने पूरी श्रद्धा के साथ देवी शारदा को स्मरण किया है--**'बंदौं देवि सरदवा पद कर जोरि।'** इसी तरह से गणेश, शिव, कृष्ण आदि का वन्दन वे करते हैं। विघ्न-विनाशक गणेश के लिये वे लिखते हैं--**'बंदौं विघन विनासन, रिधि-सिधि-ईस। निर्मल बुद्धि प्रकासन, सिसु-ससि-सीस।।'** भगवान शिव के लिये उनकी भावना है- **'ध्यावौं सोच-विमोचन, गिरिजा ईस। नागर भरन त्रिलोचन, सुरसरि सीस।।'** भगवान राम के लिए उनकी भावना है--**'विपद-विदारन, खल दानव वनजारन, प्रिय रघुवीर।'** और भी--**'गहि सरनागति राम की, भवसागर की नाव। रहिमन जगत उधार कर, और न कछु उपाव।।'** हिन्दू देव-देवियों के प्रति ऐसे श्रद्धामय भाव रहीम के काव्य में भरे पड़े हैं, गो कि वे अल्लाह को भूले नहीं हैं और न इससे उनका इस्लाम धर्म खतरे में पड़ा है। अपने संस्कृत में रचे ज्योतिश ग्रन्थ 'खेटकौतुकजातकम्' में उन्होंने खुदा की बन्दगी की है- **'करोम्यब्दुलरहीमोऽहंखुदातालाप्रसादतः।'** धर्म के मामले में अपने पराए के भाव से इतने ऊपर उठे ऐसे रचनाकार के बारे में डॉक्टर विजयेन्द्र स्नातक का यह कहना सही ही है कि **'राष्ट्रीय भावात्मक एकता की दृष्टि से रहीम की रचनाओं की आज भी उनती ही प्रासंगिकता है जितनी कि रचनाकाल में रही होगी।'** (हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ-124)।

भक्तिकाल का एक बहुत बड़ा और प्रभावी स्वर है प्रेम का। बेशक यह आत्मा-परमात्मा के बीच उदात्त संबंध को दिखाने के लिए भक्त कवियों ने अपनाया है, पर मनुष्य-मनुष्य के बीच घटाकर देखने पर भी इसके औदात्य में कोई कमी नहीं आती। रहीम ने जीवन के विविध आयामों में इस प्रेम की महिमा को बखूबी समझा था और यह महसूस किया था कि **'ज्यों चौरासी लख में मानुष देह। त्यों ही दुर्लभ जग में सहज सनेह।'** जीवन एक बार मिलता है, परन्तु उसी में मनुष्य अपने भांति-भांति के शत्रु बनाते घूमता है। रहीम मानते हैं कि जीवन को यदि सुखद और सार्थक बनाना है तो उसका एक ही उपाय है-- सभी के प्रति प्रीति की रीति का निर्वाह--**'रीति प्रीति सबसों भली, बैरन हित मित गोत। रहिमन या ही जनम की, बहुरि न संगत होत।।'** किसी से यदि प्रेम किया जाये तो सच्चे मन से हो, न कि उसमें छल-छद्म भरा हो। दिखावे वाले, मजबूरी वाले, दबाव वाले या मतलबपरस्त और अवसरवादी प्रेम के रहीम पक्षधर नहीं। वे साफ कहते हैं--**'रहिमन प्रीति न कीजिए, जस खीरा ने कीन। ऊपर से तो दिल मिला, अन्दर फांकें तीन।।'** प्रेम करने वाले, उसका दिखावा करने वाले तो जग में बहुत मिलेंगे, पर सच्चा और सहज स्नेह भी क्या उसी तरह से सर्वसुलभ है? **'सबको सब कोऊ करै, कै सलाम कै राम। हित रहीम तब जानिए, जब कुछ अटकै काम।'** प्रेम की सच्ची परख तो गाढ़ी विपत्ति के समय, आवश्यकता के समय होती है-**'विपति कसौटी जे कसे, सोई सांचे मीत।'** यह प्रेम-सूत्र बड़ी मुश्किल से जुड़ता है और यदि एक बार जुड़ जाए तो उसको बहुत संभाल के रखने की जरूरत होती है--

रहिमन धागा प्रेम का, मत तोरौ छिटकाय।

टूटे से फिर ना जुरै, जुरै गाँठ परि जाय।।

भक्ति साहित्य का एक और प्रबल स्वर परमार्थ का है। अपनी ही नहीं, अपने साथ दूसरों की भी हित-चिंता करना, यानी लोक-कल्याण। मध्यकाल में संतत्व की भी भगवद्भक्ति के बाद सबसे बड़ी कसौटी यही स्वीकारी गई। चाहे तुलसी की **'परहित सरिस धर्म नहिं भाई'** जैसी पंक्तियों को लें, चाहे

कबीर की **'परमारथ के कारने साधुन धरा शरीर'** जैसी उक्तियों को-- निर्गुण-सगुण सबके यहां यही भाव मिलता है। परोपकार या परमार्थ करना मनुष्यता की सबसे बड़ी कसौटी और पहचान है। रहीम की विशेषता यह है कि उन्होंने अपने काव्य में तो इस तरह के कथन किए ही हैं-- **'कह रहीम पर काज हित संपति सँचहिं सुजान।'** पर, उन्होंने अपने जीवन में भी इसे चरितार्थ कर दिखाया है। रहीम की दानवीरता से सम्बंधित अनेक किस्से इस बात के प्रमाण हैं। रहीम का यह दर्शन था कि कोई किसी के पास यूँ ही अपना आत्मसम्मान गँवाने नहीं जाता। कोई विवशता ही उसे मांगने को मजबूर करती है। इसलिए उन्होंने कहा, **'रहिमन वे नर मर चुके, जे कहुं मांगन जाहिं। उनते पहले वे मुए, जिन मुख निकसत नाहिं।।'** रहीम किसी चीज की सार्थकता, चाहे वह छोटी हो या बड़ी, इस बात में मानते हैं कि वह दूसरों के कितने काम आती है। इसीलिए लिखते हैं--**'धनि रहीम जल पंक को, लघु जिय पियत अघाय। उदधि बड़ाई कौन है जगत पियासो जाय।'** बड़े-से-बड़ा आदमी यदि किसी के काम नहीं आ सकता तो उसके बड़प्पन की क्या सार्थकता है।

दोहावली, नगर शोभा, बरवै नायिका भेद, मदनाष्टक, शृंगार सोरठा, रास पंचाध्यायी, नीति कुण्डल, रहीम रत्नावली, खेट कौतुक जातकम आदि रहीम की प्रसिद्ध रचनाएँ हैं, तथापि उनकी जो रचनाएं जन-मन में अधिक समादृत और प्रचलित हुई हैं वे उनके नीति संबंधी दोहे हैं। इनकी विद्वानों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने **'हिंदी साहित्य का इतिहास'** में लिखा है-- **'रहीम के दोहे वृंद और गिरधर के पदों के समान कोरी नीति के पद नहीं हैं। उनमें मार्मिकता है, उनके भीतर से एक सच्चा हृदय झांक रहा है।** जीवन की सच्ची परिस्थितियों के मार्मिक रूप को ग्रहण करने की क्षमता जिस कवि में होगी वही जनता का प्यारा कवि होगा।' (पृष्ठ-147)। **'हिंदी साहित्यः उद्भव और विकास'** में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की टिप्पणी है--"भर्तृहरि के श्लोकों की भांति उनमें जीवन की अनुभूत सच्चाई है, और संपत्ति-मद से विह्वल लोगों के हृदय का यथार्थ चित्रण है। **नीति और अन्योक्ति की दृष्टि से रहीम के दोहे बेजोड़ हैं।** इन दोहों की मर्मस्पर्शिता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि साधारण जनता ने इनके आधार पर बहुत सी कहानियाँ बना ली हैं।" (पृष्ठ 115-16)।

रहीम जनता के प्यारे कवि रहे हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। उनके नीति-संबंधी दोहे इतने लोकप्रिय इसलिए हो सके हैं, क्योंकि वे उनके जीवनानुभवों की उपज हैं। उनमें जीवन की व्यवहारिकता है और सम्यक् मार्गदर्शन है। रहीम ने जीवन में सुख भी देखा, दुख भी देखा; बहुत ऊँचाई प्राप्त की, तो पतन भी देखा। गरीबी-अमीरी का अंतर देखा। दुर्दिनों में उन्होंने लघुता के महत्व को पहचाना और बार-बार उसे बखाना-- **'जहाँ काम आवे सुई, कहा करे तरवारि,' 'जे गरीब को आदरैं, ते रहीम बड़ लोग'** इत्यादि।

समाज को सुख से जीना है तो उसके लिए शान्ति बहुत जरूरी है, पारस्परिक सद्भाव बहुत आवश्यक है। एक-दूसरे के प्रति अज्ञान और अपरिचय के चलते नफरत और घृणा नहीं, अपितु एक-दूसरे के बारे में जानकर, समझकर, सम्मान कर, अच्छी बातों को ग्रहण कर आपसी सौहार्द्र और सहिष्णुता का विकास आवश्यक है। रहीम का काव्य यही करता नजर आता है। सिर्फ विरोध के लिये विरोध नहीं, जिस मिट्टी में जन्म लिया है, जहां का अन्न-जल पाकर जीवन जीया है- उस देश की मिट्टी का सम्मान, वहां की परम्पराओं के प्रति सदाशयी भाव, वहां के लागों के प्रति, उनकी भावनाओं के प्रति प्रेम और सहभाव का बर्ताव, यही उस देश की और उसके साथ अपनी भी मजबूती और उन्नति का अनिवार्य

सूत्र है। रहीम जैसे रचनाकार हमें यही सिखाते हैं कि दिल तलवार से नहीं, प्रेम से अपने उदार व्यवहार से जीते जाते हैं।

रीतिकालीन कवियों से तुलना करके देखें तो रहीम भी एक बहुत बड़े दरबार और दरबारी संस्कृति से जुड़े थे। पर, अन्तर यह है कि जुड़े हुए होने पर भी वे उससे बंधे हुए नहीं थे। आम जनों के साथ उनका संबंध बना रहा और एक समय तो ऐसा भी आया कि संकट के समय उन्हें एक आम आदमी की ही तरह कठिन परिस्थितियों में रहना भी पड़ा। अतः उनकी रचनाओं में उनका अनुभव बोलता है। इसीलिये उनके दोहे जीवन के इतने निकट बन पड़े हैं कि मन को सहज ही छू लेते हैं। इन दोहों को कबीर की साखियों और बिहारी के दोहों के समकक्ष रख देने पर भी इनकी चमक उनसे किसी मामले में कम नहीं दिखायी देती- न मार्मिकता के स्तर पर, न बोधगम्यता के स्तर पर और न प्रभाव के ही स्तर पर। नीति बिहारी में भी है, पर वह बौद्धिकता को अधिक स्पर्श करती प्रतीत होती है, क्योंकि उसमें चमत्कार अधिक है। रहीम की नीति हमारे मन के तारों को झंकृत करती है, क्योंकि उसमें सहजता है, स्वानुभूतिपरक होने से वह यथार्थ के अधिक निकट है।

रहीम हिन्दू से परिवर्तित होकर बने हुए मुसलमान नहीं थे और न ही पीढ़ियों पुराने भारत के बाशिन्दे। भारत से उनका रिश्ता मात्र एक पीढ़ी पुराना भर ही था। हाँ, उनकी माँ भारतीय जरूर थीं-- मेवाती। फिर भी रहीम ने बहुत शीघ्र उस भारतीय परम्परा को समझ लिया, जिसे हिन्दुत्व, हिन्दुस्तानियत या भारतीयता कहा जाता है। मात्र समझ ही नहीं लिया, आत्मसात भी कर लिया। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत में धर्मनिरपेक्षता जैसे शब्द को अपनाया गया, जबकि यह परम्परा यहां कभी रही ही नहीं और न इसका भारत जैसे धर्म प्रवण देश में कोई औचित्य है। यही कारण रहा है कि यह यहाँ उतनी कामयाब नहीं हो पायी। यहां तो परम्परा धर्मनिरपेक्षता की नहीं, धर्मसापेक्षता की रही है, सर्वधर्म समभाव की रही है और वही सफल हो सकती है। धर्म-सापेक्ष दृष्टि रखने से ही व्यक्ति अपने धर्म पर आस्था रखते हुए भी दूसरे धर्मों की आस्थाओं-मान्यताओं के प्रति सम्मान का भाव रख पाता है। धर्मनिरपेक्ष होने से वह दोहरा बर्ताव करता है, छद्म रखता है। अधिकतर मामलों में वह अपने धर्म से तो अलग हो नहीं पाता, दूसरे धर्मों के पीछे पड़ा रहता है। भारत के सभी महान शासकों का अपना कोई-न-कोई निजी धर्म रहा, लेकिन उनके शासन में सभी धर्म फले-फूले। अन्य मुस्लिम शासकों के मुकाबले देखें, तो अकबर की भी महानता इसी बात में है कि उसने धर्म-सापेक्ष दृष्टि रखी। अर्थात्, सभी धर्मों को सकारात्मक दृष्टि से देखा। उनकी अच्छी बातों को जाना-समझा और यथा-आवश्यक माना भी। रहीम इसी उदार परिवेश में, उसी महान शासक की छत्र-छाया में पले-बढ़े। फलतः वे एक कदम और आगे जाकर सोच और कर पाये। यह नीति से भी आगे नीयत की बात है। दिनकर जी ने अपनी पुस्तक **'संस्कृति के चार अध्याय'** में सही ही लिखा है कि "अपने धर्म और आध्यात्मिक विश्वास पर सुदृढ़ रहते हुए भी मुसलमान कितना अधिक भारतीय हो सकता है, रहीम इसके जाजवल्यमान प्रमाण हैं।" (पृ. 255)।

धर्मनिरपेक्षता यानी सेक्युलरिज्म की आवश्यकता वहां होती है, जहां कट्टरपन होता है। मतलब, सभी को धर्म से जुड़ी मान्यताओं को मानने की अनिवार्यता होती है। भारतीय धर्मों में ऐसा कोई बन्धन है ही नहीं। किसी भी धर्म का अनुयायी उस धर्म की किसी भी बात को न मानने पर भी उस धर्म में बना रह सकता है। अपने एक धर्म को मानने पर भी दूसरे धर्म के प्रति सम्मान रखने का भाव उसे विरासत में मिला है। भारत की वह मुख्यधारा, जिसे आज हिन्दू या हिन्दुत्व कहकर जाना जाता है, इसीलिये इतनी अप्रतिहत गति से आगे बढ़ती चली

आयी है और अक्षुण्ण सनातन रह सकी है, क्योंकि उसमें सर्व-स्वीकार का भाव है। सब कुछ को समाकर भी अपने मूल स्वरूप को बनाये रखने की क्षमता है। जिन्होंने कट्टरपन दिखाया, वे परम्पराएं सिमट गयीं। आज फिर कुछ लोग ऐसे ही प्रयासों में लगे हैं। धर्मों-जातियों के नाम पर लोगों को छोटी-छोटी अस्मिताओं में बांटकर तात्कालिक लाभ लेने की कुचेष्टा कर रहे हैं और एक दूरगामी संकट की आशंका पैदा कर रहे हैं। ऐसे में अपना भक्ति-साहित्य और रहीम जैसे कवि हमें याद आते हैं। अपनी उदार धार्मिक सोच के लिये रहीम अपने समय में भी कुछ लोगों की आंखों में चुभे होंगे और आज भी उनके हिन्दू देवी-देवताओं के प्रार्थना सम्बन्धी पद्य ऐसे कुछ कट्टरपंथी लोगों की आंखों में चुभते होंगे। परन्तु रहीम ने यह किया। यही उनका बड़प्पन है, महानता है। इसके लिये उनकी जितनी सराहना की जाये, कम है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी पुस्तक **'हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास'** में उनके बारे में लिखा है-- "रहीम की रचनाएं जीवनरस से परिपूर्ण हैं। मानसिक औदार्य, सांस्कृतिक विशालता और धार्मिक सहिष्णुता के विषय में रहीम की तुलना गिने-चुने लोगों से की जा सकती है।...निस्सन्देह इस कवि का हृदय मानवीय रस से परिपूर्ण और अनासक्त तथा अनाविल सौन्दर्य-दृष्टि से समृद्ध था...।" (पृ.-116)। आखिर रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि केशवदास ने यूंही उनके बारे में इस तरह से लिखकर प्रशंसा नहीं की थी-

अमित उदार अति पावन विचार चारु
जहां तहां आदरियो गंगा जी के नीर सों
खलन के घालिबो को, खलक के पालिबो को
खानखाना एक रामचन्द्र जू के तीर सों।

प्रोफेसर - हिन्दी विभाग एवं भाषा संकायाध्यक्ष (डीन),
राजीव गांधी विश्वविद्यालय,
रोनो हिल्स, दोइमुख (ईटानगर)
अरुणाचल प्रदेश-791112,
मो.-9436053279
ई-मेल : hkstgpn@gmail.com

●

Ugccare.unipune.ac.in

UGC-Cell for Journal Analysis

UGC-CARE List

You searched for 'Indian Languages' Total Journals : 284 *(SL. No. Alphabetically)* Search वैचारिकी

Sl.No.	Journal Title	Publisher	ISSN	E-ISSN	Action
157	वैचारिकी (Print only)	Bharatiya Vidya Mandir	0975-6531	NA	View
You searched for 'V' Total Journals : 26					
4	Vaichariki (print only)	Bharatiya Vidya Mandir	0975-6531	NA	View

Copyright © 2021 Savitribai Phule Pune University. All rights reserved. | Disclaimer

मीराबाई और तेलुगु की कवयित्री मोल्ला

डॉ. एम. अंजनेलू

साधना, भावना, भक्ति, संप्रदाय, गुरु, जन्म-तिथि, जन्म-स्थान, विवाह, संघर्ष, व्यक्तिगत जीवन के विषय में अपूर्ण जानकारी जैसी कई समानताएं हिंदी की कवयित्री मीराबाई और तेलुगु की भक्त कवयित्री मोल्ला में दिखाई देती हैं। मीराबाई की जन्म तिथि के संबंध में कवयित्री अपनी ओर से कोई प्रमाण नहीं देती हैं। मीराबाई की रचनाओं के आधार पर मुंशी देवीप्रसाद मीरा का जन्म 1550-1551 के बीच मानते हैं। राजस्थान के अन्य इतिहासकार हरविलास शारदा और गौरीशंकर ओझा ने एक मत से मीरा का जन्म सन् 1555 के आस-पास निश्चित किया है। डॉ. रामकुमार वर्मा और परशुराम चतुर्वेदी ने भी इसी तिथि को स्वीकार किया है। कन्हैया लाल मुंशी और वियोगी हरि ने इनका जन्म सन् 1557 माना है। किंतु यह भी सही प्रमाणित नहीं होता है क्योंकि 'भक्तमाल' में मीरा के विवाह के समय की अवस्था बारह वर्ष लिखी गई है जो संवत् 1555 के निकट है।

जन्म स्थान के विषय में भी विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान मीराबाई का जन्म स्थान जोधपुर का बाजोली ग्राम मानते हैं और कुछ लोग कुड़की को मानते हैं। मीरा के विवाह के संदर्भ में भी विभिन्न विचार हैं। उनका विवाह कब और किससे हुआ, इस संदर्भ में आलोचकों में मतभेद है। मीरा के विवाह के संदर्भ में तीन मत प्रचलित हैं- 1. मीरा का विवाह राणा कुंभा से हुआ, 2. मीरा का विवाह राणा कुंभा के कुंवर से हुआ, 3. मीरा का विवाह महाराणा सांगा के पुत्र भोजराज से हुआ। यहाँ तीसरा मत अधिक सही सिद्ध हुआ है। उनका वैवाहिक जीवन बहुत अल्पकाल का रहा।

मीरा के गुरु कौन हैं, इसमें भी मतभेद है। मीरा पर कार्य करने वाले विद्वानों ने मीरा के गुरुओं के नाम भिन्न-भिन्न बताए हैं। अधिकांश विद्वान प्रसिद्ध भक्त रैदासजी को मीरा का गुरु मानते हैं। कुछ अध्ययनकर्ता जीव गोस्वामीजी को तो कोई रामानन्दजी, हरिदासजी, माधवपुरीजी, चैतन्य महाप्रभु, देवजी और यहाँ तक कि एक विद्वान तो विश्नोई सम्प्रदाय के प्रवर्तक जंभोजी को मीरा का गुरु मान रहे हैं लेकिन इससे हम यह भी अनुमान कर सकते हैं कि मीरा का कोई धार्मिक गुरु नहीं था। वस्तुतः, मीरा ने किसी भी सन्त को अपने गुरु के रूप में स्वीकार नहीं किया।

'मोल्ला रामायण' की रचयिता आटुकूरी मोल्ला तेलुगु साहित्य की प्रथम कवयित्री हैं।

कवयित्री मोल्ला यद्यपि पढ़ी-लिखी नहीं थी, किंतु भगवान मल्लेश्वर के प्रसाद से ही उन्हें काव्य रचना करने की शक्ति प्राप्त हुई। केसन शेट्टी की पुत्री के रूप में पलकर बड़ी होने के कारण कुछ आलोचक उन्हें वैश्य कन्या मानते हैं। परन्तु जनश्रुति के अनुसार मोल्ला निम्न जाति की कुमारिन हैं और राज दरबारों के प्रभाव में न पड़कर उन्होंने अपने काव्य को नरांकित ना करके भगवान राम को समर्पित किया है।

उपलब्ध जानकारी के अनुसार मोल्ला का जीवन काल सन् 1420 से लेकर 1540 के मध्य का माना जाता है। वे नेल्लूर मंडल के आत्मकुरू नामक ग्राम की निवसिनी थी और विजयनगर के राजा श्री कृष्णदेवराय के समकालीन थी। कहा जाता है कि राजा कृष्णदेवराय के दरबारी कवि स्त्री एवं शूद्र जाति तथा बाल-विधवा होने के करण मोल्ला का अपमान किया करते थे। स्त्री और विधवा होने तथा राम-भक्ति के कारण उन्हें कई संकटों का सामना करना पड़ा। इससे यह विदित होता है कि तत्कालीन समाज कितना रूढ़िवादी था। दक्षिण में धार्मिक दृष्टि से वीरशैव, शैव तथा अद्वैत के आवेश कुछ कम होते जा रहे थे और शैव-वैष्णव में समरसता आ गयी थी। इसके राजनीतिक उलटफेर भी करणभूत थे। समाज में मोल्ला को खूब सताया गया। निम्न जाति की स्त्री एवं विधवा होने के कारण न तो वह मंदिर में प्रवेश कर सकती थी और न राम का नाम ले सकती थी। जनश्रुति है कि मोल्ला ने शपथ लेकर सात दिनों में रामायण की रचना कर दिखायी। इससे समाज की दुष्ट शक्तियों ने कुपित होकर मोल्ला के सामने ही उनके पिता केसन शेट्टी का वध किया था। इन संकटों में भी मोल्ला ने राम भक्ति के सहारे अविचलित होकर रामायण को पूरा किया।

मीरा के बाल्य जीवन के विषय में कुछ जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं, कहा जाता है कि मीरा गिरधर गोपाल के प्रेम में इतना आसक्त हुई कि मन ही मन उन्होंने अपने आराध्य देव को पति के रूप में वरण कर लिय। बालिका मीरा ने किसी बारात को देखकर अपनी माँ से पूछता, मेरा वर कौन है? माँ ने अबोध बालिका का मन रखने के लिए कह दिया, गिरधर गोपाल! तभी से मीरा के सरल हृदय ने अपने-आपको सर्वस्वसे गिरधर गोपाल को समर्पित किया। एक अन्य जनश्रुति के आधार पर एक दिन कोई साधु, मेड़ता के शासक और मीरा के दादा राव दूदा के पास एक साधु आया जिनके पास गिरधर गोपाल की बड़ी ही मोहक मूर्ति थी। बालिक मीरा मूर्ति पर मुग्ध होकर उसे लेने के लिए हठ करने लग गई और साधु को मानना पड़ा, तभी से मीरा उस मूर्ति को सदैव अपने पास रखने लग गई।

इन घटनाओं से पता चलता है कि बाल्यावस्था में ही मीरा ने गिरधर गोपाल को अपना इष्ट बना लिया था और उन्हें हीं अपना सर्वस्व मानने लगी थी। इस तरह के कुछ पद भी प्राप्त होते हैं--

'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो ना कोई'।

विवाह के बाद भी मीरा गिरधर गोपाल की मूर्ति को अपने साथ ससुराल में ले गई थी। उन दिनों कन्या का विवाह यौवनावस्था में कदम रखने से पहले ही कर दिया जाता था। मीरा के मन में कृष्ण के प्रति प्रेम था। वे अपने हृदय में इसी प्रेम भाव को लेकर ससुराल चित्तौड़ गई थीं और वे सदैव कृष्ण-उपासना में मग्न रहती थी। उन्होंने अपने पति को पति के रूप में नहीं स्वीकारा। मीरा का वैवाहिक जीवन बहुत संक्षिप्त रहा। भोजराज अधिक दिनों तक जीवित न रह सके। बीस वर्ष की आयु में ही मीरा विधवा हो गई। इससे उनके जीवन में बहुत परिवर्तन आया। राजपूताने में पति की मृत्यु पर सती होने की प्रथा मीरा के समय में भी प्रचलित थी। किंतु वे सती नहीं हुईं, जिसके कारण उन्हें कई तरह के कष्ट सहने पड़े। मीरा सभी लौकिक संबंधों की परवाह न करते हुए अपने इष्ट देव के प्रति अनुरक्त रही और पूरा समय गिरधर गोपाल की आराधना में

व्यतीत करने लग गई तथा साधु-संतों के संपर्क में भी रहने लगी। ससुर राणा सांगा की मृत्यु के बाद मीरा की सास, ननद तथा देवर राणा विक्रमादित्य ने उन्हें बहुत कष्ट दिए। राणा विक्रमादित्य ने जब विष का प्याला भेजा तो मीरा ने उसे अमृत मानकर पी लिया लेकिन फिर भी उन्हें कुछ नहीं हुआ। मीरा की जीवनी शक्ति अत्यंत दृढ़ थी। उन्होंने किसी भी विषम परिस्थिति में अपना शीश नहीं झुकाया और समझौता नहीं किया। राजकुल की संकीर्ण मर्यादाओं को तोड़कर खुले समाज में आ गई और गिरधर गोपाल की भक्ति में लीन हो गई।

कवयित्री मोल्ला ने राम कथा के प्रमुख प्रसंगों को सरल रीति में प्रस्तुत किया है। उनसे पूर्व कई कवियों ने रामायण की रचना की, फिर भी वे रामायण की रचना क्यों करना चाहती हैं? इस प्रश्न के उत्तर में वे कहती हैं- "आदि रघुराम चरित्रमु सदा सादरमगु विभिन्न गोत्तय्लक्षना सम्पादमै पुन्य स्त् वेदमै तोच्चुकोनु वेरिने चेप्पुन।" अर्थात् यह रघुराम का चरित्र है। इसे सुनने में नित्य नवीन काव्य लक्षणों का सम्पादन होकर पुण्यस्त् वेद के समान प्राप्ति होती है। यदि ऐसा नहीं है तो मैं क्या पगली हूँ जो पुनः इस कथा को कहूँ। फिर कवयित्री मोल्ला प्रश्न करती हैं कि, भक्ति और मुक्ति का मूल तो रामचन्द्र हैं, उनकी स्तुति करने में दोष ही क्या है? इसके विषय में वे एक उदाहरण देकर समझाती है :-"एक वेश्या के द्वारा अपने एक तोते का नाम राम रखकर बार-बार राम राम कहकर पुकारने से उसका उद्धार हुआ। अतः उस राम की स्तुति करने से परम आनंद की प्राप्ति क्यों नहीं होगी?"

मोल्ला की महत्ता तेलुगु सहित्य में दो प्रकारों से दिखायी देती है। एक कवयित्री के रूप में और दूसरी राम की परम भक्तिनी के रूप में। मोल्ला अत्यंत प्रतिभा सम्पन्न एवं विनयशील व्यक्तित्ववाली कवयित्री थी। वे कभी यह नहीं कहती है कि मैं प्रतिभा सम्पन्न हूँ, अतः मैं राम-कथा कथन करुंगी। वे यह कहती हैं कि 'देशीय शब्द तेलुगु संस्कृत संधियों का ज्ञान, काव्य रीतियाँ, समास, अर्थ, भावार्थ, काव्य परिपाक, रस, भाव, धातु, क्रियाएं, अलंकार, विभक्तियाँ, छन्द, लक्षण आदि जानती ही नहीं हूं।' फिर भी यह कवयित्री सुन्दर काव्य रचने की प्रतिज्ञा करती है और सात दिन के अंदर 900 पद्यों में राम कथा पूर्ण कर देती है।

काव्य के आरंभ में ही मोल्ला ने तेलुगु कविता के लक्षणों का सुंदर दिग्दर्शन कराया है। अपनी विद्या एवं पांडित्य प्रदर्शन के लिए संस्कृत के दीर्घ समासों से युक्त काव्य रचना करना मोल्ला को अभीष्ट नहीं था। वह ध्वनि पूर्ण मधु-मधुर ठेठ तेलुगु शब्दों में काव्य रचने का निश्चय कर लेती है। कवयित्री कहती है :-"तेने, नोरु तिय्या नगु रीति तोड़ानारदुनेल्ला बोचुकोंडागूडा शब्दमुलनु गर्चना काव्यमु मूगा चविटिवारु मच्चाटगुनु।" जैसे मधु के लगते ही सारा मुँह मीठा हो जाता है, वैसे ही सुनते ही शब्दों का अर्थ सामने में आना चाहिए। गूढ़ और कठिन शब्दों से युक्त काव्य तो बहरों और गूंगों का तमाशा होगा। मोल्ला कुमारिन शूद्र जाति की हैं। अतः वे जानती हैं कि रामकथा संस्कृत में होने से साधारण जनता की पहुँच के बाहर हो जाएगी। अतः वे देशी ग्रामीण भाषा में श्रीराम की भक्ति और शक्ति के बल पर काव्य रचना करती है।

अपनी रामकथा के आरंभ में मोल्ला अपने से पूर्व कवियों वाल्मीकि, वेदव्यास, भारवि, शिवभद्र, कालिदास, नाचनसोमन्न, नन्नय, श्रीनाथ, रंगनाथ और तिक्कन्ना जैसों को याद करते हुए उन्हें नमस्कार कर, गोपवरम्के श्रीकंठ मल्लेश्वर के प्रसाद से कविता करना सीख गयी। ये सारी बातें उनकी प्रतिभा, प्रतिज्ञा तथा अतुलित विनय भावना को ही प्रकट करती हैं।

वे कहती हैं कि :-"सुलालित प्रताप गुण सागर राम कृपालु की स्तुति करने वाली जिह्वा को छोटे-मोटे राजाओं की स्तुति रुचिकर क्यों होगी।" रामचंद्र

के कहने पर ही वे राम के पुण्य चरित्र का गान करती हैं और अंत में उन्हीं के चरण कमलों में उसे समर्पित करती हैं; इससे मोल्ला के स्वभाव और व्यक्तित्व का पता चल जाता है।

मीरा के आराध्य देव गिरधर गोपाल होने पर भी वे उन्हें राम भी कहती हैं। दरअसल मीरा राम और कृष्ण को अलग-अलग नहीं अपितु एक ही मानती हैं।

अब ते मेरा राम नाम दूसरा न कोई।
माता छोड़ी, पिता छोड़े, छोड़े सगा भाई।
साधु संग बैठ-बैठ लोक लाज खोई।।
संत देख दौड़ आई, जगत देख रोई।
प्रेम आंसु डार डार, अमर बेल बोई।।
मारग में तारग मिले, संत राम दोई।
संत सदा शीश राखूं, राम हृदय होई।।
अंत में से तंत काढ्यो, पीछे रही सोई।
राणे भेज्या विष का प्याल, पीवत मस्त होई।।
अब तो बात फैल गई, जाने सब कोई।
दासी मीरां लाल गिरधर, होनी हो सो होई।।

मोल्ला की तरह मीरा की भाषा आम जनता की भाषा है जिसे साधारण व्यक्ति भी बोल समझ सकता है। उनकी भाषा शब्द, उपमाएं, मुहावरे, लोकोक्तियाँ और भाव जन-साधारण के ही हैं और उनमें कवित्व शक्ति का प्रदर्शन और छन्द शास्त्र के विधान की धर-पकड़ नहीं थी, न ही उनमें व्याकरण के दाँव-पेंच ही थे। इसी भाषा के कारण मीरा के पद जनता में इतने प्रचलित हो सके। जनता उन्हें आसानी से समझ सकी, भाव-विभोर हो सकी।

इन दोनों कवयित्रियों में असमानता नाम मात्र की है। संप्रदाय की दृष्टि से मीरा कृष्ण भक्ति परंपरा में है तो मोल्ला राम भक्ति परंपरा के अंतर्गत आती है। मीरा का संबंध राजकुल से है, तो मोल्ला निम्न जाति की कुमारिन और अनाथ गरीब थी। मीरा अपने को गोपिका मानती थी और उनकी माधुर्य भाव की भक्ति थी। मोल्ला की दास्य भाव की भक्ति है। मीरा की भाषा हिंदी है तो मोल्ला की तेलुगु।

दोनों का संघर्ष स्त्रियों के लिए आदर्श है। उस समय समाज में स्त्रियों पर पुरुषों के द्वारा कई तरह के अत्याचार किए जा रहे थे। जैसे सती-प्रथा के नाम से पति की मृत्यु के बाद पत्नी को बलपूर्वक पति के साथ जिंदा जलाना और वेद, पुराण, रामायण जैसे ग्रन्थों के ज्ञान से दूर रखने के लिए उन्हें शिक्षा से वंचित रखना। इस तरह कुरीतियों से संघर्ष करने वाली स्त्रियों में उत्तर में मीरा तथा दक्षिण में मोल्ला है।

संयुक्त प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
स्कूल ऑफ ह्यूमेनिटिज,
हैदराबाद विश्वविद्यालय
हैदराबाद-500046 (तेलंगाना)
मो.- 9940425686
ई-मेल : m.anjhcu@gmail.com

●

आत्मज्योति

आप महात्मा हैं, महर्षि हैं, आपकी वर्षगांठ हम मनाना चाहते हैं, श्रद्धालु शिष्यों ने कहा। 'किसकी वर्षगांठ, इस शरीर की, जो क्षणभंगुर है, जो मैं नहीं हूं। तुम लोग, हो सकता है, सात्विक वृत्ति से मनाओगे, पर, इससे मुझमें तो रजोगुण ही बढ़ेगा। आत्मा से दूर होकर क्या मैं मरूँगा नहीं! शरीर साधन है, इसको साध्य मत बनाओ! मुझे लगेगा– साल गया अमृत की एक बूँद यों ही ढुलक गई।'

जहाँ वर्षगांठ के मोह में चेलों, प्रशंसकों, चाटुकारों के चक्कर में हमारे बेचारे नेता तो क्या, संत महंत, श्रीमंत फंदे में फंसते हैं– वहाँ इस गांठ को तोड़कर निर्ग्रन्थि हो विचरण करने वाले पुण्यश्लोक यों थे –

'आत्मज्योति से ज्योतित महर्षि रमण।'

महाकाव्यों के धार्मिक-सामाजिक संदर्भों में संगीत-नाट्य

डॉ. वन्दना चौबे

धर्म प्रधान भारत में आध्यात्मिक उपादानों को लेकर कला के विराट रूप का सृजन हुआ है। संगीत कला का उद्‌गम भले ही मानव की सहज भावनाओं एवं प्रेरणाओं के अभ्यन्तर हुआ हो किन्तु उसका विकास व पालन पोषण धर्म की कोख में हुआ है। धार्मिक अभिव्यंजना भारतीय नृत्य व संगीत का आधार रही है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वैसे तो समाज शब्द का साधारण अर्थ मनुष्यों का समुदाय है। किन्तु विशिष्ट अर्थ में गीत, वाद्य, नृत्य के उत्सव के लिए जो समुदाय एकत्र होता है, उसे भी समाज कहते हैं।[1] मनुष्य समाज में रहकर ही भौतिक सुखों को प्राप्त करता है। लेकिन हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों ने भौतिक-वाद से भी ऊपर एक अनन्य सुख को महत्व दिया जो आत्मिक सुख के नाम से जाना जाता है। यदि मनुष्य मधुर संगीत व नृत्य की लहरियों में अपने को आत्मसात करले तो आत्मिक सुख प्राप्त कर सकता है।

उपनिषदों के अनुसार आत्मा का निर्माण पंच कोषों से होता है और वे कोष हैं- अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय। इनमें आनन्दमय कोष का महत्व सर्वाधिक माना गया है। नृत्य का लक्ष्य है सौन्दर्य को आकृष्ट करते हुए धीरे-धीरे चरमोत्कर्ष की ओर ले जाना और फिर दिव्यता का दर्शन कराते हुए मानव के अध्यात्म अर्थात आनन्दमय कोष का उत्थान करना। द्वारका माहात्म्य के अनुसार --

यो नृत्यति प्रहष्टात्मा भावैरसयन्त भक्तितः।
सानिदर्शति पापानि जन्मांतर शतैरपि।।

अर्थात् जो नर्तक प्रसन्नचित्त और श्रद्धाभक्ति से नृत्य करता है, उसे जन्म-जन्मान्तर के पापों से मुक्ति और मोक्ष की प्राप्ति होती है। नृत्यकला मानव को न केवल सांसारिक बन्धनों से दूर ले जाती है, अपितु आध्यात्मिक ऊँचाइयों तक ले जाकर ईश्वर से एकीकरण की क्षमता रखती है। विष्णु धर्मोत्तर पुराण में कहा गया है कि देवताओं के स्वामी विष्णु नृत्य व गीत के द्वारा इतने प्रसन्न होते हैं कि वे यज्ञ के बराबर फल प्रदान करते हैं-- **नृत्तं गीतं तथा वाद्यं दत्वा देवाय विष्णवे। सर्वकामसमृद्धस्य यज्ञस्य फलमश्नुते।।**[2] भक्ति द्वारा भक्त का चित्त आत्मशांति तो प्राप्त करता है, परन्तु उसमें स्थिरता संगीत के माध्यम से आती है, और

भाव नृत्य द्वारा आता है।

रामायण काल में ईश्वरआराधना के लिए नृत्य-कला का आलम्बन लिया जाता था। लंकेश्वर रावण शिवार्चना करते समय नृत्य व गायन द्वारा शिव की पूजा करता था।[3] जब भरत को राम के अयोध्या लौटने का संवाद मिला, तब उन्होंने यह आज्ञा जारी की कि शुद्धाचारी पुरुष कुलदेवताओं का तथा नगर के सभी देवस्थानों का सुगंधित पुष्पों और गाजे-बाजे के साथ पूजन करें। रामायण काल में हमें जितने उत्कृष्ट एवं सुरम्य संगीत की मनोरम झाँकी मिलती है, उतनी इससे पूर्व के कालों में कहीं नहीं मिलती। क्योंकि इस काल में जब राजा ही संगीत के मर्मज्ञ थे तो फिर उनकी प्रजा क्यों न होगी। रामायण में प्राप्त नृत्य के संदर्भों की ओर हम देखते हैं तो पाते हैं कि जहाँ प्रागैतिहासिक काल से प्रवाहित लोक नृत्य की धार इस युग में भी अपनी सहज गति से आगे बढ़ती गयी, वहाँ शास्त्रीय नृत्य ने सामाजिक जीवन में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया। मनुष्य को सुसंस्कृत बनाने के लिए जिन विद्या, कलाओं की अनिवार्यतः शिक्षा दी जाती थी उनमें नृत्य व संगीत भी था। स्वयं श्रीराम संगीत, वाद्य, चित्र आदि कलाओं के ज्ञाता (वैहारिकाणां शिल्पानां ज्ञाता)[4] तथा संस्कृत प्राकृत मिश्रित भाषा के नाटकों के जानकार थे।[5] लंकेश्वर रावण नृत्य-गीत में पारंगत था। सुन्दर काण्ड के 20वें सर्ग में वह सीता को बहुत से प्रलोभनों द्वारा समझाता है कि मुझे अंगीकार कर लो। उन प्रलोभनों में उसने गीत, वाद्य, नृत्य को भी गिनाया है।[6] रावण की पत्नी मन्दोदरी तथा अन्तःपुर की अन्य स्त्रियाँ भी इन कलाओं में निपुण थी।[7] दिव्यांगना अप्सराओं एवं गन्धर्वों के नृत्य गीत का रामायण में प्रचुर उल्लेख देखने को मिलता है। राम लक्ष्मणादि चारों भाइयों के विवाह के उपलक्ष्य में अप्सराओं ने नृत्य किया था - **'ननृतुश्चाप्सरः सङ्घा गन्धर्वाश्च जगुः कलम्।'**[8] भरद्वाज के आश्रम में भरत तथा उनकी सेना के अतिशय संस्कार में भी अप्सराओं का नृत्य आयोजित हुआ। **'प्रववुश्चोत्तमा वाता ननृतुश्चाप्सरोगणाः। प्रजगुर्देवगन्धर्वा वीणाः प्रमुमुचः स्वरान्।'**[9]'' पुलस्त्य मुनि के आश्रम में दिव्यांगनाएँ, नाग कन्याएं एवं अप्सरायें अनेक प्रकार के नृत्य करती थीं[10] तथा विभीषण की तप समाप्ति पर भी अप्सराओं ने नृत्य किया--**'समाप्ते नियमे तस्य ननृतुश्चाप्स-रोगणाः'**[11] बाल काण्ड के 32वें सर्ग में एक कथा है कि राजर्षि कुशनाभ तथा घृताची अप्सरा से सौ कन्याएँ उत्पन्न हुयीं। ये रूप-यौवन सम्पन्न कन्याएं नृत्य-गान में भी कुशल थीं।[12]

जब भद्र परिवारों में कलाओं का इतना मान हो तब व्यावसायिक नट-नर्तक बड़ी संख्या में नृत्य की साधना में लगे होंगे इसका अनुमान इसी विवरण से लगाया जा सकता है कि गणिकाओं और नाटक मण्डलियों से सारी अयोध्या नगरी घिरी हुई थी- **''वधूनाटकसंघैश्च संयुक्तां सर्वतः पुरीम''।**[13] राम के जन्मोत्सव पर राज मार्ग पर नटों नर्तकों की भीड़ लगी हुयी थी। **''रथ्याश्च जनसम्बाधा नट नर्तक संकुला''।**[14] राम के अश्वमेध यज्ञ के समय भी नट, नर्तक उपस्थित थे- **तथैव तालावचरास्थैव नटनर्तकाः।**[15] इसी प्रकार राम-राज्याभिषेक के अवसर पर नटों, नर्तकों व गायकों से भरे उत्सव को लोग बड़ी तन्मयता से देख व सुन रहे थे **''नटनर्तक संघानां गायकानां च गायतान। मनः कर्णसुखावाचः सुश्राव जनता ततः''।।**[16]

उस युग में नृत्य गान का इतना चाव था कि युद्ध भूमि में जाते समय भी नट-नर्तकियाँ साथ जाते थे। जब शत्रुघ्न ने मधुपुरी पर चढ़ाई की तब उनके साथ नट-नर्तकियों के दल भी थे।[17] नृत्य के अतिरिक्त उस समय नाट्य का भी उल्लेख मिलता है। नाट्य के आयोजन के लिए राजमहलों से जुड़ी हुयी नाट्यशालाएं हुआ करती थीं, जहाँ प्रख्यात नट-नर्तक अपनी कला का प्रदर्शन करते थे। जिस समय भरत अपने ननिहाल में थे। उनके दुःस्वप्न से दुखित

मन के रंजन के लिए ऐसी ही नाट्यशाला में एक नाटक का आयोजन किया गया था।[18] उस काल में संगीत व नृत्य पर्याप्त उन्नत दशा में थे। नृत्य, संगीत राष्ट्र को उन्नत करने वाला समझा जाता था। राजा कलाकारों का परिपोषक था और संगीतज्ञों को प्रसन्न रखना अपना कर्तव्य समझता था। अयोध्याकाण्ड के 67वें सर्ग के 15वें श्लोक में यह तथ्य व्यक्त किया गया है कि जिस देश में राजा नहीं है वहाँ नट, नर्तक कभी प्रसन्न नहीं रहते और राष्ट्र को उन्नत करने वाले उत्सव और समाज वहाँ बढ़ नहीं सकते।[19] (नृत्य, गान इत्यादि के उत्सव करने वाले समूह के अर्थ में समाज शब्द व्यवहृत हुआ है)। सचमुच रामराज्य जैसे सुशासनकाल में ही नृत्य, संगीत आदि कलाओं की इतनी उन्नति सम्भव है-- **नीराजने जनपदि प्रहष्ट नट नर्तकाः।**

रामायण काल से समाज के सम्भ्रांत वर्गों में शास्त्रीय नृत्य के प्रति जो रुचि जाग्रत हुयी थी उसका पूर्ण विकास महाभारत काल में हुआ। महाभारत के सूत्रधार श्रीकृष्ण का तो नाम ही 'नटवर' है, उन्होंने ब्रज में गोपियों के साथ 'रास नृत्य' करके सम्पूर्ण जड़-चेतन को मोहित कर डाला था। यह रास 'हल्लीसक' नाम से भी जाना जाता है तथा महाभारत के खिल भाग हरिवंश में इसका वर्णन छालिक्य नाम से किया गया है।[20] इन्हीं कृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध की पत्नी उषा ने 'लास्य' नृत्य की शिक्षा स्वयं भगवती पार्वती से प्राप्त की थी तथा उसे द्वारिका की रमणियों को सिखाया था।[21] इसी प्रकार महाभारत के नायक अर्जुन गायन, वादन व नृत्य तीनों जानते थे, उन्होंने इसकी शिक्षा इन्द्र के आदेशानुसार[22] चित्रसेन गंधर्व से प्राप्त की थी।[23] गन्धर्व संगीत के ज्ञाता होते थे, संगीत शास्त्र 'गन्धर्व शास्त्रम' कहा गया है। ये गन्धर्व संगीत में तो कुशल थे ही नृत्य और वाद्य में भी विशारद थे। **'नृत्तैवर्दिश्च गान्धर्वै'**[24] **गन्धर्वा गीत कुशला नृत्तेषु च विशारदाः।'**[25] इत्यादि वाक्य यह सिद्ध करते हैं कि गन्धर्व गीत, वाद्य और नृत्य तीनों में कुशल थे। ऐसे ही संगीत (गीत, वाद्य, नृत्य) में निपुण चित्रसेन गंधर्व से अर्जुन ने नृत्य की शिक्षा प्राप्त की थी तथा अपने अज्ञात वास काल में अर्जुन ने वृहन्नला बनकर इसकी शिक्षा राजा विराट की पुत्री उत्तरा को प्रदान की थी।[26]

उस समय नृत्य, गीत उन्नत दशा में था। सभ्य समाज द्वारा समादृत तथा संस्कृति और शिक्षा का यह एक आवश्यक अंग समझा जाता था। महाभारत आदि पर्व के 70वें अध्याय में कच और देवयानी की कथा आती है। उसमें कच के विषय में कहा गया है-- **'गायन्नृत्यन्वादयंश्च देवयानीमतोषयत्'** अर्थात् कच ने गाकर, नाचकर व बजाकर देवयानी को संतुष्ट किया। उस समय राजा लोगों ने नर्तनागार तथा संगीतशाला बनवा रखी थी जिसमें दिन में बालिकाओं को नृत्य, गीत इत्यादि की शिक्षा दी जाती थी और रात को वे अपने घर चली जाती थीं।[27]

वैदिक काल से लेकर महाभारत काल तक यज्ञ के समय वेदगान ही नहीं होता था अपितु नृत्य व गीत से उत्सव भी मनाये जाते थे।[28] जिसमें नारद, तुम्बरू, विश्वावसु, चित्रसेन, गन्धर्व इत्यादि जो गाने में कुशल थे और अन्य गन्धर्व जो नृत्य में कुशल थे अपनी कला द्वारा यज्ञ में एकत्र हुए ब्राह्मणों का मनोरंजन करते थे।[29] रामायण के समान महाभारत काल में भी नित्य के सामाजिक जीवन में सब प्रकार के उत्सवों में नृत्य, गीत इत्यादि का व्यवहार होता था। जब अर्जुन ने लक्ष्यवेध किया, तब चारों ओर आनन्द छा गया। लोगों ने जी भर कर उत्सव मनाया। परीक्षित के जन्मदिन पर खूब-नृत्य-गान हुआ। **"शुशुभे तत्पुरंचापि समुद्रौघनिभसवनम्"। नर्तकैश्चापि नृत्यद्भिर्गाय कानां च निःस्वनै।**[30] नगर में नर्तकों के नृत्य से और गायकों के मधुर स्वर से धूम मच गयी। आदि पर्व के अ. 219 (सुभद्राहरण) में रैवत पर्वत पर कई दिनों तक वृष्ण्यन्धक कुल के लोगों ने खूब उत्सव मनाया[31] तथा उसमें **वादित्राणि च तत्रान्ये वादकाः**

समवादयन्। ननृतुर्नर्तकाश्चैव जगुर्गेतानि गायकाः।[32] वादकों ने बाजे बजाये, नर्तकों ने नृत्य प्रदर्शन किया और गायकों ने गीत गाये। इसके अतिरिक्त अनेक ऐसे उदाहरण हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि महाभारतकालीन समाज में नृत्य का प्रचुर प्रचार था। **'ततो वादित्रनृत्ताम्याम' (आदि 200, 99), 'सुनृत्तगीतवादित्रैः' (आदि 207, 114), 'नृत्यवादित्रगीतैश्च' (सभा 5.24) वादित्रं नृत्तगीतं (सभा 8.36) नृतं गीतं च वाद्यं चित्रसेनादवाप्नुहि (आरण्य 40.6) 'नृत्यामि गायामि च वादयाम्यहं' (विराट 9.17) गीतवादित्र संवादैः तालनर्तनलासितैः (द्रौण 74.38) नृत्यवादित्रगीतानाम् (शांति 297, 28) नृत्यवादित्रगीतानि (आश्वमेधिक 40, 13)।**

यज्ञ, विवाह, पुत्र जन्मोत्सव के समय नट-नर्तकियाँ नृत्य व गायन वादन द्वारा अपनी कला का प्रदर्शन करते थे। इस प्रकार प्रत्येक शुभ अवसर पर इनकी उपस्थिति का उल्लेख प्राप्त होता है।

सामान्य लोगों के अतिरिक्त ऋषि-मुनि भी इनकी कला से बहुत प्रभावित थे। हरिवंश (2/9/26) में वासुदेव कृष्ण के द्वारा अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर भद्र नामक नट द्वारा एक अद्‌भुत नाट्य दिखाये जाने पर वहाँ उपस्थित ऋषि-मुनि इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने पुरस्कार स्वरूप उसे आकाश में विचरण करने और स्वेच्छा से रूप धारण करने का वरदान दे दिया। इस प्रकार उस युग में नृत्य के अतिरिक्त नाट्य के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं। वनपर्व (15/13) में "रामायण" व "कौवेर रम्भाभिसार" नामक दो नाटकों के अभिनीत होने का उल्लेख प्राप्त होता है। हरिवंश के बाणासुर आख्यान (2.29.32) में 'मुग्धाभिनय' नामक नाटक खेले जाने का वृत्तान्त है, जिसे देखकर शंकर पार्वती भी विस्मय विमुग्ध हो गये थे। इस प्रकार महाभारत काल में संगीत व नाट्य के सर्वांगीण विकास के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं।

संदर्भ

1. अयोध्याकाण्ड 51/23.
2. विष्णु धर्मोत्तर पुराण- 27.
3. समर्चयित्वा स निशाचरो जंगौ। प्रसार्थ हस्तान प्रणनर्तचाग्रतः।। उत्तर काण्ड 31/44.
4. अयोध्याकाण्ड 1/28.
5. रामा. 2/1/7.
6. गीत नृत्यं च वाद्यं च लभ मां प्राप्य मैथिलि। सुन्दरकाण्ड 20, 10.
7. रामायण 5/10/37-49.
8. बालकाण्ड, सर्ग-73, श्लोक 38, 39.
9. अयोध्या काण्ड, सर्ग-91, श्लोक 26.
10. गायन्त्यो वादन्त्यश्च लासयन्त्यस्तथैव च।।
उत्तरकाण्ड-2/11.
11. उत्तरकाण्ड 10/7.
12. गायन्तो नृत्यमानाश्च वादयन्त्यस्तु राघव। आमोदं परमं जग्मुर्वराभरणभूषिताः।। बालकाण्ड 32,13.
13. रामायण 1/5/12.
14. रामायण 1/18/18.
15. उत्तरकाण्ड 91/15.
16. अयोध्याकाण्ड 6/14.
17. रामा. 7/64/3.
18. वादयन्ति तथा शान्ति लास्यन्त्यपि चापरे। अयोध्याकाण्ड 2/69/4.
19. नाराजके जनपदे प्रह्वस्टनटनर्तकाः। उत्सवाश्च समाजाश्च वर्धन्ते राष्ट्रवर्धना।। अयोध्याकाण्ड 67/15.
20. हरिवंश 2/89/83-84.
21. बुद्धवाऽथ ताण्डवं तण्डोर्मर्त्येभ्यो मुनियोऽवदन्।
पार्वती त्वनुशास्ति स्म लास्यं बाणात्माजामुषाम्।।
तथा द्वारवतीगोप्यस्ताभिः सौराष्ट्रयोषितः।
तथाभिस्तु तत्तद्देशीयास्तदाशिष्यन्त योषितः।।
एवं परम्पराप्राप्तमेतल्लोके प्रतिष्ठितम् ।। अभिनयदर्पण श्लोक 5, 6, 7.
22. नृत्यं गीतं च कौन्तेय चित्रसेनादवाप्नुहि।
वनपर्व 44/3.

23. गान्धर्वमतुलं नृत्यं वादित्रं चोपलब्धवान् सशिक्षितो नृत्यगुणाननेकान् वादित्रगीतार्थगुणांश्च सर्वान।

वनपर्व 44/10-11।

24. अनुशासन 128, 324।

25. आश्वमेधिक 94, 43।

26. स शिक्षायामास च गीतवादितं सुतां विराटस्य धनंजयः प्रभुः। सखीश्च तस्यां परिचारिकास्तथा प्रियश्च तासां स बभूव पाण्डवः।। विराटपर्व 11/12-13।

27. यैषा नर्तनशालेह मत्स्यराजेन कारिता। दिवाऽत्र कन्या नृत्यान्ति रात्रौ यान्ति यथागृहम।। वि.प. 22/3।

28. तेषु ते न्यवसन्राजन्ब्राह्मणः नृत्यसत्कृताः। कथयन्तः कथा वद्रीः पश्चन्तो नटनर्तकान्। सभा 33/49।

29. नारदश्च बभूपात्र तुम्बरूश्च महाद्युतिः। विश्वावसुश्चित्रसेनस्थाऽन्ये गीतकोविदाः।।

गन्धर्वा गीतकुशला नृत्येषु च विशारदा। रमयन्ति स्म तान्विप्रान यज्ञकर्मान्तरेषु वै।। अश्व. 88/39-40.

30. अश्व. 70, 18।

31. ततः कतिपायाहस्य तास्मिन्नैवतके गिरौ। वृष्ण्यनधकानामभवदुत्सवो नृपसत्तम।। आदि. 219/1।

32. आदि. 219.4।

एसोसिएट प्रोफेसर, कत्थक नृत्य
102, गौतम बुद्ध निवास, वनस्थली विद्यापीठ
राजस्थान-304022,
मो. 9887562951

दान की महिमा

एक भिखारी भीख मांगने निकला। चलते समय उसने अपनी झोली में जौ के मुट्ठी भर दाने डाल लिए। उसे किसी ने ऐसा कहा था की भिक्षा मांगने के लिए निकलते समय झोली खाली नहीं रखते। थैली देखकर दूसरों को भी लगता है कि इसे पहले से ही किसी ने कुछ दे रखा है। पूर्णिमा का दिन था। भिखारी सोच रहा था कि आज अगर ईश्वर की कृपा होगी, तो मेरी यह झोली शाम से पहले ही भर जायेगी। अचानक सामने से राजपथ पर उसी देश के राजा की सवारी आती हुई दिखाई दी। यह देखकर भिखारी काफी खुश हो गया। उसने सोचा कि राजा के दर्शन और उनसे मिलने वाले दान से उसकी सारी दरिद्रता दूर हो जायेगी।

जैसे ही राजा का रथ भिखारी के निकट आया, राजा ने अपना रथ रुकवाया और उसके निकट पहुंचे। लेकिन राजा ने उसे कुछ देने के बदले उल्टे अपनी चादर उस भिखारी के सामने फैला दी और राहत कोष के लिए भीख कि याचना करने लगे। भिखारी को समझ नहीं आ रहा था कि वह क्या करे। भिखारी ने आधे मन से अपनी झोली में हाथ डाला। फिर उसके मन में एक बात आयी कि देने से कोई चीज कभी घटती नहीं और लेनेवाले से देनेवाला बड़ा होता है, जैसे-तैसे करके उसने दो दाने जौ के निकले और राजा कि चादर में डाल दिये। हालांकि उस दिन भिखारी को अधिक भीख मिली, लेकिन अपनी झोली में से दो दाने जौ के देने का मलाल उसे सारा दिन रहा। शाम को जब वह घर लौटा, तो दुखी मन से उसने अपनी झोली पलटी, तो उसके आश्चर्य का सीमा न रही। जो जौ वह अपने साथ झोली में ले गया था, उसके दो दाने सोने के हो गये थे। एकाएक उसे समझ में आया कि यह दान की महिमा के कारण ही हुआ। वह पछ्ताया कि काश, उसने राजा को और अधिक जौ दिए होते, लेकिन दे नहीं सका, क्योंकि उसकी देने कि आदत नहीं थी। आगे से भिखारी रोज जितना भीख में मांगता, उसका थोड़ा हिस्सा दान कर देता।

चौहानों के शौर्य का प्रतीक : तारागढ़

डॉ. उर्मिला शर्मा

लोक गीतों में गढ़ बीटली के नाम से विख्यात अजमेर की पश्चिमी पर्वत श्रेणियों के शिखर पर तारे के समान प्रकाशित तारागढ़ पूर्वी राजस्थान का एक सुदृढ़ दुर्ग है जो बारहवीं शताब्दी तक अजयमेरु दुर्ग के नाम से जाना जाता था। सन 1141 के जैन ग्रंथ 'आवश्यक निर्युक्ति' से ज्ञात होता है कि शाकम्भरी के चौहान शासक अजयराज ने यहाँ पहाड़ की तलहटी में पृथ्वीपुरा नामक नगर की स्थापना की थी। अजयराज ने अपने पिता पृथ्वीराज प्रथम की स्मृति में 12वीं शताब्दी में यह नगर बसाया जो बाद में अजयमेरु या अजमेर नाम से विख्यात हुआ। कर्नल जेम्सटाड के अनुसार चौहान शासक अजयराज ने ही 12वीं शताब्दी के प्रारंभ में अजमेर नगर तथा अजयमेरु दुर्ग का निर्माण कराया था। इतिहासकार गोपीनाथ शर्मा के अनुसार मेवाड़ के राणा रायमल के पुत्र युवराज पृथ्वीराज (राणा सांगा के भाई) ने इस दुर्ग के कुछ भाग बनवाये थे और अपनी वीरांगना पत्नी तारा के नाम पर इसका नाम 'तारागढ़' रखा।

राजस्थान में अजमेर की पश्चिमी पहाड़ी पर अस्सी एकड़ क्षेत्र में विस्तृत यह दुर्ग समुद्री सतह से 2,855 फीट की ऊंचाई तथा भूमि की सतह से 1,300 फीट की ऊंचाई पर स्थित है। गिरि दुर्ग होने के कारण पहाड़ियों की बनावट तथा घुमावों को आधार बनाकर ही इसकी प्राचीरों की रचना की गई जो अजमेर नगर के शीर्ष पर प्रहरी के समान खड़ा पश्चिमी भारत के प्रवेश द्वार की रक्षा करता था। मध्यकालीन भारतीय इतिहास में अजमेर अपनी केंद्रीय स्थिति के कारण राजस्थान एवं गुजरात में प्रवेश के लिए महत्वपूर्ण रहा। यह दुर्ग अपनी दुर्भेद्यता, घुमावदार चढ़ाई के कारण गिरि दुर्गों में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। बारहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी के ऐतिहासिक एवं राजनीतिक उतार-चढ़ावों, शत्रुओं के आक्रमण, विश्वासघात, सत्ताओं का परिवर्तन, रक्तपात आदि का यह साक्षी है। इस दुर्ग को तारागढ़ तथा गढ़ बिटली भी कहा गया है। अब इसका मूल रूप इसके अधिष्ठान की भित्तियों के अंश तथा तलच्छन्द के कुछ अवशिष्ट अंशों में ही शेष रह गया है। दुर्ग का ऊर्ध्वछन्द विभिन्न कालों में चौहानों, मुगलों, मराठों, राठौड़ राजाओं द्वारा जोड़ा गया। पृथ्वीराज विजय महाकाव्य में इस दुर्ग को अनेक मंदिरों, अट्टालिकाओं, बावड़ियों आदि से अलंकृत होने का उल्लेख मिलता है। बीहड़ एवं विकट पहाड़ियों के कारण दुर्गम तथा

प्राकृतिक जलाशयों की उपस्थिति, जो वर्षभर पेयजल की आपूर्ति में सक्षम प्राकृतिक जलाशय हैं तथा खाद्य सामग्री के भण्डारण को देखकर ही बिशप हैब्बर ने इस दुर्ग को पूर्व का 'दूसरा जिब्राल्टर' कहा था। दुर्ग में पेयजल की आपूर्ति के लिए पांच जलाशयों में से चार दुर्ग के अंदर हैं तथा एक दुर्ग के बाहर है। बाहर स्थित नानासाहब का झालरा (जलाशय) नकारची बुर्ज के पास है, जो मराठा सरदार शिवाजी नाना द्वारा 1791 ईस्वी में निर्मित कराया गया था। इसी बुर्ज के पास दुर्ग के अंदर एक गोलाकार जलाशय गोलझालरा भी नाना साहब द्वारा ही बनवाया गया था। इसमें पानी के कूप एवं खाद्य सामग्री के भण्डारण की व्यवस्था थी। इस दुर्ग के प्राचीनतम अवशेषों में कचहरी का भवन चौहान शासकों द्वारा निर्मित है। यह 32 स्तम्भों पर आधारित आयताकार 50 x 24 फीट संरचना है जिसकी सपाट छत, चारों ओर से एक फीट मोटी दीवार से आवृत्त है। स्तम्भों की ऊंचाई 11 फीट और छत समेत 14 फीट है।

दुर्ग की पहली प्राचीर में प्रवेश करने के लिए लक्ष्मीपोल नामक प्रवेश द्वार है। यह प्राकृतिक पहाड़ियों के आधार पर निर्मित है। प्राचीर की दूसरी शृंखला लक्ष्मीपोल में प्रवेश करने के बाद दिखाई पड़ती है। घुमावदार पहाड़ियों पर चढ़ते हुए दुर्ग का तीसरा प्रमुख द्वार आता है। इसमें प्रवेश के लिए एक खिड़की भी है। दुर्ग के अन्य द्वार उत्तर-पश्चिमी दिशा में हैं जो नीचे से ऊपर तक दुर्ग मार्गों की सुरक्षा के लिए बनाये गये थे। इनके नाम भवानीपोल, हाथीपोल, अरकोट का दरवाजा अर्थात् कोट के अंदर का दरवाजा आदि हैं। दुर्ग की प्राचीर के 14 बुर्जियां हैं। बड़ा दरवाजा से पूर्व की ओर घूंघट बुर्ज, गूगड़ी बुर्ज, फूटा बुर्ज तथा चौथा नकारची का बुर्ज है। शृंगार चवरी बुर्ज, जानू नायक बुर्ज, पीपली बुर्ज, इब्राहीम शाहिद का बुर्ज, दोहराई बुर्ज, इमली बुर्ज, बान्दरा बुर्ज, खिड़की का बुर्ज, फतेह बुर्ज आदि में से कुछ के नाम वृक्षों या बनवाने वालों के नाम पर पड़े हैं। इनमें खिड़की बुर्ज तथा फतेह बुर्ज में दुर्ग में प्रवेश के लिए अन्तिम द्वार हैं। इन्हीं द्वारों की प्राचीर पर तोपें खड़ी करने के आधार अभी तक दिखाई देते हैं।

अजमेर का यह तारागढ़ दुर्ग उत्तर भारतीय इतिहास एवं राजस्थान की अनेक महत्वपूर्ण घटनाओं से सम्बद्ध होने के कारण इतिहासकारों के लिए आज भी अध्ययन का विषय बना हुआ है। चौहान राजाओं के राज्यकाल में अजमेर उत्तरी भारत का महत्वपूर्ण केन्द्र बन गया था। अजयराज चौहान ने गजनी के मुस्लिम आक्रमणकारियों को अजमेर से वापस लौटने पर विवश किया था। उसके पुत्र अरणोराज ने सन् 1132 में मुस्लिम आक्रान्ताओं को यहीं युद्ध में परास्त किया था तथा अजयमेरु पर हुए रक्तपात से अपवित्र हुई धरती को धोने के लिए आनासागर बांध का निर्माण कराया था। इसी वंश के बीसलदेव विग्रहराज, पृथ्वीराज द्वितीय, सोमेश्वर तथा पृथ्वीराज तृतीय ने तारागढ़ के आश्रय में रहते हुए दिल्ली तक अपने राज्य का विस्तार किया था। सन् 1192 में मुहम्मद गौरी ने पृथ्वीराज तृतीय को युद्ध में मार कर अजमेर पर अधिकार कर लिया था। उसके लौटते ही पृथ्वीराज तृतीय के भाई ने पुनः दुर्ग पर अधिकार कर लिया था। मुहम्मद गौरी के प्रतिनिधि गुलाम कुतुबुद्दीन ऐबक ने इस दुर्ग को फिर 1195 ई. में हस्तगत कर लिया। गुजरात के शासक भीमदेव से परास्त होकर कुतुबुद्दीन ने इसी दुर्ग में शरण ली थी, जहां मेरों एवं राजपूत सैनिकों ने छह महीने तक घेराबन्दी कर उसे नष्ट करना चाहा था। सन् 1397 से 1555 ई. के बीच मारवाड़ के राव रणमल, मेवाड़ के पृथ्वीराज, गुजरात के बहादुरशाह, मेड़ता के राव बीरमदेव, जोधपुर के राव मालदेव तथा शेरशाह सूरी ने भी इस दुर्ग पर आक्रमण किये तथा कुछ समय के लिए इस पर अधिकार किया। अकबर ने भी गुजरात तथा राजस्थान के विजय अभियानों तथा विजित प्रदेशों पर प्रशासन की पकड़

मजबूत रखने के लिए अजमेर को ही केन्द्र बनाया था। उत्तराधिकार के संघर्ष में औरगंजेब से धौलपुर में परास्त होकर दाराशिकोह ने इसी दुर्ग में शरण ली थी। मुगल शासकों के बाद यह दुर्ग कुछ समय तक जयपुर तथा मारवाड़ राज्य के अधिकार में रहा। इसके पश्चात् सन् 1756 से इस पर मराठों का अधिकार हो गया। सन् 1801 से 1818 तक ग्वालियर नरेश सिन्धिया के आधीन रहने के बाद ईस्ट इण्डिया कम्पनी से राजपूताना के राज्यों की संधि होने पर यह अंग्रेज सत्ता के अधिकार में चला गया। सन् 1920 तक नसीराबाद छावनी के अंग्रेज सैनिक यहां आरोग्य लाभ के लिए आते थे। यहां लगभग 100 सैनिकों के रहने की व्यवस्था थी। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् एक बार पुनः जीर्णोद्धार के क्रम में यहां महान हिन्दू सम्राट पृथ्वीराज चौहान (तृतीय) की प्रतिमा की स्थापना की गई जो इसके गौरवमय इतिहास का स्मारक है। तारागढ़ दुर्ग लम्बे समय की यात्रा कर अब ऐतिहासिक स्मारक बन गया है। यह आज भी चौहानों के शौर्य का उज्ज्वल प्रतीक है।

म.नं. 168 हरिभाऊ उपाध्याय नगर (मैन)
निकट कार्निवाल सिनेमा के पास, अजमेर
(राज.)-305004
मो.- 9414866100

19 ऊंटों की कहानी

एक गाँव में एक व्यक्ति के पास 19 ऊंट थे। एक दिन उस व्यक्ति की मृत्यु हो गयी। मृत्यु के पश्चात वसीयत पढ़ी गयी। जिसमें लिखा था कि मेरे 19 ऊंटों में से आधे मेरे बेटे को, 19 ऊंटों में से एक चौथाई मेरी बेटी को, और 19 ऊंटों में से पांचवां हिस्सा मेरे नौकर को दे दिए जाएँ। सब लोग चक्कर में पड़ गए कि ये बंटवारा कैसे हो? 19 ऊंटों का आधा अर्थात एक ऊंट काटना पड़ेगा, फिर तो ऊंट ही मर जायेगा। चलो एक को काट दिया तो बचे 18 उनका एक चौथाई साढ़े चार-साढ़े चार फिर? सब बड़ी उलझन में थे। फिर पड़ोस के गांव से एक बुद्धिमान व्यक्ति को बुलाया गया। यह बुद्धिमान व्यक्ति अपने ऊंट पर चढ़ कर आया, समस्या सुनी, थोड़ा दिमाग लगाया, फिर बोला इन 19 ऊँटों में मेरा भी मिलाकर बांट दो। सबने सोचा कि एक तो मरने वाला पागल था, जो ऐसी वसीयत कर के चला गया और अब ये दूसरा पागल आ गया जो बोलता है कि उन मेरा भी ऊँट मिलाकर बांट दो। फिर भी सब ने सोचा बात मान लेने में क्या हर्ज है।

19+1 = 20 हुए। 20 का आधा 10, बेटे को दे दिए। 20 का चौथाई 5, बेटी को दे दिए। 20 का पांचवा हिस्सा 4, नौकर को दे दिए। 10+5+4=19 बच गया एक ऊंट, जो बुद्धिमान व्यक्ति का था। वो उसे लेकर अपने गाँव लौट गया। इस तरह 1 ऊंट मिलाने से, बाकी 19 ऊंटों का बंटवारा सुख, शांति, संतोष व आनंद से हो गया। सो हम सब के जीवन में भी 19 ऊँट होते हैं।

5 ज्ञानेंद्रियाँ (आँख, नाक, जीभ, कान, त्वचा), 5 कर्मेन्द्रियाँ (हाथ, पैर, जीभ, मूत्र द्वार, मलद्वार), 5 प्राण (प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान) और 4 अंतःकरण (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार)। कुल 19 ऊंट होते हैं। सारा जीवन मनुष्य इन्हीं 19 ऊंटों के बँटवारे में उलझा रहता है। जब उनमें ध्यान रूपी ऊंट मिलाया जाता है तब सरलता से बंटवारा हो जाता है और सुख, शांति, संतोष व आनंद की प्राप्ति हो जाती है।

देलवाड़ा स्थित जिनालयों का शिल्प सौन्दर्य

डॉ. मीना बया

'देलवाड़ा' नाम सुनते ही माउण्ट आबू स्थित देलवाड़ा का स्मरण हो जाता है, जो शिल्पकला व स्थापत्य हेतु जग प्रसिद्ध है। किन्तु राजस्थान के पूर्व मेवाड़ राज्य की प्राचीन राजधानी, वर्तमान उदयपुर के उत्तर में राष्ट्रीय मार्ग सं. 8 पर स्थित देलवाड़ा नामक ग्राम के बारे में बहुत ही कम लोगों को ज्ञात है। यह ग्राम उदयपुर से अजमेर मार्ग पर 30 किमी की दूरी पर मेवाड़ के कुलदेवता श्री एकलिंगनाथ मंदिर के पास स्थित है।

देलवाड़ा स्थित जिनालय ऐतिहासिक, पुरातात्विक व स्थापत्य एवं मूर्तिशिल्प कला की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। यहां के श्री पार्श्वनाथ जिनालय स्थित वि.सं. 1275 की लेखयुक्त सप्तफण आटोप वाली पार्श्वनाथ प्रतिमा के दर्शन से ज्ञात होता है कि देलवाड़ा 13वीं शताब्दी से पूर्व अस्तित्व में था और यहाँ जैन धर्म भी प्रचलन में रहा। देलवाड़ा का मूल नाम अभिलेखों में देवकुलपाटक प्राप्त होता है।[1] इसका संस्कृत, प्राकृत साहित्य में 'देवउलापुर'[2] नाम मिलता है। वर्तमान का यह देलवाड़ा ग्राम उस समय के देवलकुलपाटक का एक मोहल्ला था, जिसे 'तेलीवाड़ा' के नाम से जाना जाता था।[3] अभिलेख प्रमाणों से ज्ञात होता है कि 15वीं से 17वीं शताब्दी के मध्य में देलवाड़ा ने प्रचुर वैभव अर्जित किया एवं विपुल वैभव से परिपूर्ण समृद्ध विराट नगरी रहा। इस काल में करीब 300 जैन मन्दिरों का निर्माण यहाँ हुआ। अनेक प्रतिमा लेखों से ज्ञात होता है कि जिनवर्धनसूरि, जिनचन्द्रसूरि चतुर्थ, जिनसागरसूरि, सर्वानन्दसूरि आदि आचार्यों ने यहाँ समय-समय पर जिन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा कराई थी।[4]

उस समय यहाँ आये अनेक जैन साधु-साध्वियों, प्रतिष्ठित जैनाचार्यों द्वारा आवश्यक वृहद्वृत्ति, भवभावना, बालावबोध, सुपार्श्वचरित्र, भाष्यत्रयचूर्णी, शाष्टिशातक बालावबोध, आराधना पताका बालावबोध, तपागच्छ पट्टावली इत्यादि अनेक जैन धार्मिक ग्रन्थों की रचना प्रचुर मात्रा में हुई।[5] मुनिसुन्दरसूरि की प्रसिद्ध कृति संतिकरस्तोत्र की रचना भी इसी काल में हुई। तपाचगच्छ के युग प्रधान जैनाचार्य सोमसुन्दरसूरि यहाँ पाँच बार आए और उन्होंने भुवनसुन्दर, रत्न शेखर आदि को आचार्य पद तथा वि.सं. 1497 में मुनिसुन्दर के शिष्य लक्ष्मीसागर को गणि पद प्रदान किया।[6]

इन सबकी पुष्टि देलवाड़ा स्थित जिनालयों में स्थित प्रतिमाओं पर उकेरित लेखों एवं प्रशस्तियों से होती है। 'सर्प मयूर पट्ट' पर लिखित 1491 वर्षे माघ वदि 5 का लेख अंकित है। इसमें श्राविका, मेलादेवी (जिसने आदिनाथ का मन्दिर वि. सं. 1486 में बनवाया), रामदेव के पुत्र सहण व सारंगादि के नामों का उल्लेख मिलता है।[7] ये दोनों भाई राणाकुम्भा के समय में मुख्यमंत्री थे व इनका परिवार देलवाड़ा का रहने वाला था।

देलवाड़ा स्थित जिनालयों की तुलना आबू, रणकपुर, कुम्भारिया आदि जग प्रसिद्ध देवालयों से की जा सकती है। यहाँ के जिनालयों में उत्तर भारत में प्रचलित स्थापत्य नागर शैली के पूर्ण विकसित रूप का दर्शन होता है। वर्तमान में यहाँ केवल तीन जिनालय ही शेष रहे हैं :-

1. श्री आदिनाथ बावन जिनालय
2. श्री पार्श्वनाथ बावन जिनालय
3. श्री ऋषभदेव बावन जिनालय

उपर्युक्त सभी जिनालय विशाल तथा स्थापत्य एवं मूर्तिशिल्पकला की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। श्री आदिनाथ बावन जिनालय तो आबू के विमलवसहि की हूबहु प्रतिकृति जान पड़ता है। इसे देखकर दर्शक को आबू का भ्रम पैदा हो जाता है। मध्यकालीन स्थापत्य के प्रतिनिधि उदाहरण इन जिनालयों का वास्तु विन्यास तलछन्द एवं उर्द्धवछन्द इस प्रकार हैः-

तलछन्द : मन्दिर प्रवेश, प्रवेशमण्डप, रंगमण्डप या नृत्यमण्डप, चौकीमण्डप, गूढ़मण्डप, कौलीमण्डप एवं गर्भगृह ये सभी भाग तलछन्द विन्यास में निर्मित हुए हैं।

प्रवेशद्वार : इन्द्र तथा पुष्प-पल्लव लतिकाओं से प्रवेशद्वार सुसज्जित हैं। प्रवेशमण्डप एवं नृत्यमण्डप के स्तम्भों को अतिरिक्त लम्बा करने हेतु उच्छालक[8] का निर्माण हुआ है।

स्तम्भों में कुम्भी भाग से मण्डोवर के शीर्ष भाग तक विद्यादेवी, यक्षिणी, दिग्पाल स्वरूप, अप्सरा स्वरूप तथा विभिन्न वानस्पातिक एवं ज्यामितीय आकारों का सुन्दर तक्षण कार्य हुआ है। मध्यकाल में स्तम्भ शीर्ष के चौकीभाग में कीचकों के अंकन की परम्परा एक विशेषता रही है। यहाँ उकेरित विविध कीचक स्वरूप चार हाथों में से दो हाथ ऊपर की ओर भार उठाने की मुद्रा में बने हैं। मानों वे ही मन्दिर की छतों का सम्पूर्ण भार उठाये हुए हैं। मोटे थुलथुल पेट वाले, आभूषणों से सुसज्जित कीचकों को देखकर हास्य का भाव पैदा होता है।

वितान : यहाँ थर तथा समतल दोनों प्रकार के वितान देखने को मिलते हैं। वितान को किन्नर, विद्याधर, विद्यादेवी, संगीत मण्डली, ज्यामितीय अभिप्रायों आदि से अलंकृत किया गया है। वितान के शीर्ष मध्य में स्थित लटकता हुआ पद्मक आधुनिक झाड़-फानूस जैसी अभिव्यक्ति देता है। गर्भगृह में मूलनायक की परिकर युक्त प्रतिमा के अतिरिक्त कहीं कोई आकृति या अलंकरण नहीं हुआ है, जिससे जैन धर्म में 'वैराग्य' और 'त्याग' के महत्व का ज्ञान होता है।

उर्ध्वछन्द : मन्दिर पीठ, मण्डोवर एवं शिखर ये तीनों भाग मुख्य रूप से मन्दिर के उर्ध्वछन्द विन्यास में आते हैं। देलवाड़ा स्थित सभी जिनालयों में कामद पीठ का ग्रास पट्टी के साथ निर्माण हुआ है।

मण्डोवर भाग में अष्टदिग्पाल युगल रूप में, अप्सराओं में- मेनका, उर्वशी एवं वंशीवादिका, चामरा, मातृवल्लभा, गौरी, शुकानासिका आदि अनेक स्वरूपों का मनोहारी रूप देखने को मिलता है। इन स्वरूपों के बीच-बीच में साधु तथा पशु-पक्षियों, विशेषकर बन्दरों की विभिन्न मनलुभावनी मुद्राओं को उकेरा गया है। इन मूर्तिशिल्पों में 'हाई रिलीफ' एवं 'लौ रिलीफ' दोनों ही रूप देखने को मिलते हैं। जंघा का शीर्षभाग ज्यामितीय अलंकरणों से सुसज्जित है।

शिखर : मण्डोवर के शीर्ष भाग में जहाँ छांग (छज्जा) का निर्माण हुआ है, यहीं से शिखर का उदय होता है। शिखर गर्भगृह के ऊपर चारों ओर से समान

रूप से अन्दर की ओर संकरे होते चले गये हैं और कोणाकार रूप धारण कर लिया है और अन्त में ऊपरी परिधि में स्कन्ध पर छोटी पाषाण शिला रख कर शिखर की ग्रीवा की रचना हुई है। इसके ऊपर 'आमलक' रखा गया है। यह आकार में ग्रीवा से बहुत बड़ा है। इसमें आँवले की फांकें इतनी गहरी उकेरी हैं कि दूर से हूबहू यह आँवला दिखाई देता है। आमलक के ऊपर गोलार्द्ध में क्रमशः छोटे होते हुए कमलदल से अलंकृत गोल प्रस्तर हैं। शीर्ष पर पाषाण कलश स्थापित है और कलश को बीजापूरक से ढंका गया है।

इस प्रकार की संरचना देलवाड़ा स्थित सभी जिनालयों में समान रूप से दृष्टिगत होती है। जिनालयों के विभिन्न अंगों पर उकेरित अलंकरण संख्या में कम ज्यादा हो सकते हैं, किन्तु मन्दिर निर्माण के शिल्प-शास्त्रीय नियमों का पालन शिल्पी द्वारा समान रूप से किया गया है।

देलवाड़ा जिनालयों के स्थापत्य की एक विशेषता उल्लेखनीय है। देलवाड़ा आदिनाथ बावन जिनालय में स्थित देवकूलिकाओं में चौमुखाजी की भद्रदेवकूलिका की पीठ 'कामद पीठ' ही निर्मित हुई है। किन्तु मण्डोवर में दोहरी जंघा निर्मित कर शिल्पी ने उसे मेरु मण्डोवर का विराट स्वरूप देकर भव्य बना दिया है।

ये देवालय स्थापत्य एवं मूर्तिशिल्पकला की दृष्टि से शास्त्रोक्त तथा श्रेष्ठ तो हैं ही, साथ ही हमारी प्राचीन स्थापत्य परम्परा की धरोहर के रूप में ऐतिहासिक, पुरातात्विक, धार्मिक एवं सामाजिक दस्तावेज भी हैं। ये उस युग विशेष के कई पक्षों का ज्ञान कराते हैं। मेवाड़ का सौभाग्य है कि यह अद्‌भुत धरोहर इसकी धरा पर है, किन्तु दुर्भाग्यवश देलवाड़ा ग्राम लम्बे समय से उपेक्षित है। राष्ट्रीय मार्ग पर स्थित होने पर भी प्रचार-प्रसार की कमी के कारण जन-जन को इसके अस्तित्व का ज्ञान नहीं है।

समय-समय पर इनके जिर्णोद्धार हुए हैं और इनके रख-रखाव के प्रयास भी होते रहते हैं। इसी शृंखला में वर्तमान में भी यहाँ स्थित श्री पार्श्वनाथ जिनालय, जो कि लेखों की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण है, को पूरा ही हटाकर नई नींव के साथ प्राचीन को नवीन रूप में पुनः स्थापित करने का कार्य चल रहा है। अध्ययन के दौरान पूर्व में स्थित शिल्प-साक्ष्य के स्थान एवं स्थिति में जिर्णोद्धार के चलते परिवर्तन हो सकता है। प्रश्न है तो यह कि हजारों पर्यटक इस मार्ग से हर दिन गुजरते हैं, किन्तु इन अद्‌भुत जिनालयों के दर्शन से क्यों वंचित रह जाते हैं? ये मध्यकालीन ऐतिहासिक वास्तुशिल्प एवं मूर्तिकला के बेजोड़ उदाहरण जिनालय उजाड़ एकान्त में मूक खड़े हैं। बेताब हैं कि बस एक बार फिर जन-जन में चर्चित परिचित हों, विपुल, वैभव प्राप्त करने के लिए।

सन्दर्भ

1. एम. एस. ढाकी, मेवाड़ नी तीर्थत्रयी : 1997, श्रुतनिधि, शारदाबेन, चिनभाई एजुकेशनल रिसर्च सेन्टर "दर्शन", अहमदाबाद, पृष्ठ-2।

2. वही।

3. वही।

4. वही।

5. मज्झमिका (पत्रिका) वर्ष : 1979-80 में प्रकाशित डॉ. बृजमोहन जावलिया का लेख-मेवाड़ का जैन साहित्य, पृष्ठ-135।

6. मेवाड़ नी तीर्थत्रयी : पृष्ठ-2।

7. यह पट्ट एवं शिलालेख आदिनाथ जिनालय के गूढ़मण्डप में स्थित है।

8. उच्छालक में स्तम्भ को अतिरिक्त लम्बा करने हेतु मूल स्तम्भ की चौथाई भाग के बराबर लम्बाई को मूल स्तम्भ में जोड़ दिया जाता है।

9. साधारण, सामान्य, बिना रूपक वाली पीठ।

(एसोसिएट प्रोफेसर- ड्राईंग एण्ड पेन्टिंग राजकीय मीरा कन्या महाविद्यालय, उदयपुर राज.), स्टूडियो-448, शास्त्री सर्कल, उदयपुर-313001

मो. : 9829145207

E-mail : meenabaya@yahoo.com

●

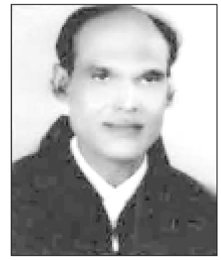

झालावाड़ की अज्ञात स्थापत्य धरोहर

ललित शर्मा

प्रस्तुत शोध लेख का उद्देश्य (राजस्थान में) मालवा-हाड़ौती के संधि स्थल पर स्थिल झालावाड़ जिले की एक ऐसी अज्ञात और अचर्चित मंदिर स्थापत्य कला की धरोहर से परिचित कराना है जो सैकड़ों बरसों से आज तक, अत्यन्त दुर्गम स्थान पर होने के कारण अन्य पुराविदों तथा शोधार्थियों की बात छोड़ दें, स्थानीय पुराविदों की पारखी नजरों से भी दूर रही। झालावाड़ जिले के पुराने राजस्व रिकार्ड में भले ही इस अनुपमेय धरोहर का नामोल्लेख श्रीयानगरी (गड़गच) बेचिराग (वीरान) रूप में मिलता है, परन्तु अभी तक इस पर किसी का ध्यान न जाने के कारण पुरातत्वप्रेमियों, शोधार्थियों में यह पूर्ण रूप से अज्ञात व अचर्चित रही है। जबकि यह धरोहर अपने प्राचीन सुन्दर स्थापत्य, शिल्प व निर्माण तकनीकी पद्धति के कारण झालरापाटन के प्रख्यात प्राचीन और अतिभव्य देवालयों की पूर्व निर्मिति (मॉडल) मानी जा सकती है। अन्तर केवल इतना है कि ये मंदिर ऊँचाई तथा विशालता में सूर्य मंदिर (पद्मनाभ) झालरापाटन से लघु रूप में हैं। इन्हें देखकर सूर्य मंदिर के प्राचीन स्थापत्य व निर्माण की तकनीक को समझा जा सकता है। यहाँ यह भी उल्लेख आवश्यक है कि राजस्थान और मालवा की इस अप्रतिम धरोहर पर किसी इतिहास या शोधग्रन्थ में कोई उल्लेख तक भी नहीं है।

राजस्थान के झालवाड़ा जिले की झालरापाटन नगरी से पूर्वी ओर 25 किलोमीटर दूर भोपाल-अकलेरा मार्ग पर स्थित है, उपतहसील मुख्यालय असनावर। यहाँ से लगभग 20 किलोमीटर दूर उत्तर की ओर स्थित काले पहाड़ के ठीक नीचे एक छोटा सा ग्राम है, बर्डिया गोरधनपुरा। इस ग्राम से लगभग 5 किलोमीटर दूर पश्चिम में कच्चे पगडंडीनुमा दुरूह मार्ग चलते हुए अन्त में मानसरोवर नामक एक प्राचीन और विशाल झील के किनारे पहुँचा जा सकता है। इसी के दक्षिण-पश्चिम में लगभग पुनः 3 किलोमीटर आगे के किनारे पर स्थित हैं उक्त श्रीयानगरी के प्राचीन अवशेष। झालावाड़ जिले के राजस्व विभाग के रेकार्ड में इसे श्रीया व गडगच नगरी मात्र लिखा गया है और इसे वीरान बताया गया है। यहाँ के विशाल आधे किलोमीटर के क्षेत्र में इस प्राचीन नगरी के ध्वस्त आवास, स्तम्भ और सुव्यवस्थित पाषाणी पथ, इसके विगत वैभव के साक्षी हैं, जिन्हें देखकर सहज ही प्रतीत होता है कि यह एक विशाल और सांस्कृतिक नगरी रही होगी। इसके ठीक सामने मानसरोवर नामक विशाल झील स्थित है जो नौका पर्यटन के लिये अतिसुन्दर स्थान है। उत्तर की ओर विशाल और लम्बी पहाड़ी, चारों ओर सघन वृक्षों का बाहुल्य है जिन्हें नौका में बैठकर निहारना

अपने आप में अनुपम है। नील गनन के तले स्वच्छ जल वाली विशाल झील की गोद में नाव पर झूलते-तैरते हुए प्रकृति के मनोहारी दृश्यों को निहारना सचमुच सुन्दरतम क्षणों में से होते हैं। प्रकृति और जल, वन, पर्यावरण का यहाँ एक-एक दृश्य देखते रहने पर भी मन नहीं भरता है। यह वह क्षेत्र है, जहाँ प्राकृतिक सम्पदा सहित पुरातत्व और भारतीय संस्कृति की अनुपम धरोहरें आज भी जीवन्त रूप में स्थित हैं, जिन्हें देखकर भारत की संस्कृति की उन्नत कला पर गर्व किया जा सकता है। भारत की यह धरोहरें न केवल मूक इतिहास हैं, अपितु भावी पीढ़ी का भविष्य भी हैं। इस क्षेत्र में मानसरोवर झील की विशाल जलराशि पश्चिमोत्तर में भीमसागर बांध की जलराशि से समन्वित हो जाती है।

इस वीरान श्रीया नगरी में 2 तथा झील के मध्य एक प्राचीन मंदिर है। ग्रामीण चरवाहे इन्हें ग्वाल मंदिर, छिनहारी मंदिर और पनिहारी मंदिर कहते हैं। झील के मध्य स्थित ग्वाल मंदिर के बारे में ग्रामीण मान्यता है कि पुराने समय में इसे किसी गायें चराने वाले ग्वाले ने निर्मित करवाया था। इस मंदिर का अवलोकन करने के लिए नौका द्वारा झील के मध्य जाना होता है। लगभग 15 से 18 फीट की ऊँचाई लिये एवं आधार पीठिका पर बने इस मंदिर को बरसात में जल पूरी तरह ढँक लेता है। तब कई महीनों तक यह दिखाई ही नहीं देता। परन्तु यह भी कम आश्चर्य नहीं कि कई महीनों तक जल में डूबा रहने वाला यह मंदिर जल के थपेड़ों से जीर्ण भले ही हो गया हो परन्तु अपने मजबूत निर्माण के कारण टस से मस नहीं हुआ है। आधार पीठिका पर बने इस मंदिर का मूल गर्भगृह रिक्त है तथा द्वार के मध्य स्थापित लघु मूर्ति भी अस्पष्ट है। जिससे यह अनुमान लगाना कठिन है कि इसके गर्भगृह में किस देव, देवी की मूर्ति प्रतिष्ठित रही होगी। मंदिर के बाहरी नक्काशीदार स्तम्भों पर सुन्दर परिचारिका मूर्तियाँ अभिनन्दन मुद्रा में हैं, वहीं बाह्य स्वरूप, भूतल से शिखर तक उच्च लघु शृंगों से निर्मित है। मंदिर के इस स्थापत्य से पांच प्रमुख कलात्मक मूर्तियाँ उखाड़ कर ले जाई जा चुकी हैं। जहां से इन मूर्तियों को निकाला गया, उसके पीछे घरट के चूने की मजबूत मोटी परत आज भी मौजूद है। मंदिर का लघु शिखर पूर्वोक्त सूर्य मंदिर की भांति उर्ध्व कमलाकृति से साम्यता रखता है। शिखर के अन्दर कई अनगढ़ पाषाण खण्ड दिखायी देते हैं। चूंकि मंदिर जल में डूबा हुआ रहता है, अतः पूर्ण अध्ययन असम्भव है। कुल मिलाकर यह मंदिर प्राचीन स्थापत्य कला का सुन्दर नमूना है। इसमें गर्भगृह के निकट 9 साध्वी महिलाओं की विभिन्न योग मुद्राओं में मूर्तियाँ बनी हुई हैं।

श्रीयानगरी (गडगच) में छिनहारी, पनिहारी नामक दो प्राचीन मंदिर स्थापत्य कला के सुन्दर उदाहारण हैं, परन्तु ये अब खण्डहर रूप में हैं। इन्हें देखने पर यह रेखांकित करना आवश्यक हो जाता है कि अज्ञात शिल्पी ने अपनी आस्था की छैनी से जिस प्रकार इन पर तक्षण कर कला उकेरी है, वह अजन्ता एलोरा की कला और कमनीयता से कम नहीं है। इनमें पनिहारी मंदिर के गर्भगृह में से मूर्ति गायब है, परन्तु इसमें मुझे शाक्त मूर्तियों के भग्नावशेष दिखायी दिये। सम्भावना है यह कभी देवी मंदिर रहा हो, और गर्भगृह में किसी देवी की मूर्ति प्रतिष्ठित रही हो। यह मंदिर ग्वाल मंदिर से थोड़ा बड़ा है, जो चौकोर आधार पीठ पर बना है। मंदिर के प्रवेश द्वार पर संवत 1416 का एक अस्पष्ट-सा लेख पठन में आत है। इसमें इस मंदिर के जीर्णोद्धार का ब्यौरा मात्र है, जिसमें यहां जीर्णोद्धार के दौरान बैद्यनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा करवाना अंकित है। यह लेख उक्त संवत के कार्तिक माह, कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा, सोमवार का पढ़ने में आया है। ग्रामीण बताते हैं कि शाह दामोदर द्वारा प्राचीन काल में यह विष्णु मंदिर के रूप में बनवाया गया था। इसी के साथ इस मंदिर का स्थापत्य बाह्य रूप में लघुशृंगों, रथिकाओं से सज्जित है जो नीचे से ऊपर शिखर तक गई हैं। यह तल से निर्मित है। मंदिर इतनी जीर्णावस्था में है कि कभी भी पूर्णतया भग्न हो सकता है। यहाँ एक पूरी तरह से भग्न मंदिर में संवत 700 के एक लेख में "अचिनमय योगी" शब्द पढ़ने में आया है। तब सम्भावना है कि

इस क्षेत्र में उस समय योगियों का प्रभाव रहा होगा और उक्त मंदिर योगियों के किसी सम्प्रदाय से सम्बद्ध रहा होगा क्योंकि योगियों को अपनी साधना के लिये जो सुविधा तथा आवश्यक साधनागत वातावरण चाहिये, वह इस क्षेत्र में है। यह मंदिर भी मानसरोवर की जल राशि के आंशिक डूब क्षेत्र में है। ग्रामीण मान्यता के अनुसार इस मंदिर को किसी पानी भरने वाली पनिहारी ने बनवाया था।

छिनहारी मंदिर कुछ बड़ा है। इसके मण्डप में

कलात्मक स्तम्भ, झालरा-पाटन के सूर्य मंदिर की भांति अष्टकोणीय स्तम्भों के स्वरूप हैं। इनमें एक-एक इंच को देव परिचर तथा मानवीय जीवन के भावों की कलात्मक मूर्तियों के द्वारा उकेरा गया है। स्थापत्य कला का यहां सूक्ष्म चित्ताकर्षक अंकन है। मूल गर्भगृह पूरी तरह ढह गया है। ग्रमीण जनों की मान्यता है कि किसी छिनहारी अर्थात छाने (कण्डे) बनाने वाली महिला ने इसे बनाया था। इस मंदिर की स्थापत्य कला के अध्ययन के आधार केवल इसके अलंकृत स्तम्भ मात्र हैं, जिन्हें देख कर इस मंदिर की सुन्दरता व स्थापत्य कला का अनुमान लगाया जा सकता है।

इस तीनों मंदिरों का अध्ययन करने से यह सम्भावना बनती है कि चूंकि ये झालरापाटन के प्रसिद्ध सूर्य मंदिर की लघु अनुकृति के रूप में प्रतीत होते हैं। अतः इन्हें उसका छोटे मॉडल कह सकते हैं। प्रतीत होता है कि ये 10वीं सदी के उक्त सूर्य मंदिर के परमार काल से एक अथवा दो सदी पूर्व के हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि झालरापाटन के उक्त विशाल सूर्य मंदिर के निर्माण से पूर्व दक्ष शिल्पियों ने जिन कलात्मक मंदिरों के निर्माण का सतत साधनागत अभ्यास किया होगा, उसी के प्रतिरूप श्रीयानगरी (गड़गच) के ये मंदिर लघु अनुकृति (मॉडल) माने जा सकते हैं। इन मंदिरों का अध्ययन करने पर झालरापाटन के उक्त विशाल मंदिर के सुंदर शिल्प, स्थापत्य, निर्माण तथा प्राचीन तकनीक को समझा जा सकता है। श्रीया नगरी के इन मंदिरों का निर्माण सुघड़ व अनेक पाषाण खण्डों को आपस में जोड़ने की प्राचीन कलात्मक तकनीक से किया गया है। इनमें दो पाषाण खण्डों को उनके मध्य सुराख बनाकर दूसरे पाषाण खण्ड का तीखा किया नुकीला भाग उसमें (सुराख में) जोड़ा गया है। इस विधि से दो पाषाण खण्ड एकाकार दिखायी देते हैं। मंदिरों के आमलक, चंद्रिका, स्कन्ध और मालायें अत्यन्त सुन्दरता लिये हुए हैं। ग्वाल मंदिर में तो कई स्थानों पर पाषाण खण्डों के एकाकार जोड़ को मजबूती देने हेतु धातु की एक पट्टी भी फँसी दिखायी दी है। इससे प्रतीत होता है कि तत्कालीन शिल्पीवर्ग तांबे, लोहे के ज्ञान व तकनीक से सुपरिचित थे और उन धातुओं को पिघलाकर वे आवश्यकतानुसार वांछित इस प्रकार के कार्य में भी प्रयोग कर लेते थे।

प्राचीन और विशाल मंदिरों का अध्ययन करने से पूर्व, शोधार्थियों को ऐसे (मॉडल) मंदिरों का अध्ययन करवाया जाये तो इससे मंदिर स्थापत्य का पूर्व ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। आज भी ये धरोहरें भारतीय संस्कृति की स्थापत्य व शिल्प कला सीखने का महाविद्यालय बन सकती हैं। हलांकि इन्हें तप्त ग्रीष्म ॠतु में झील का पानी सूखने के बाद ही भलीभाँति देखा जा सकता है।

चूंकि प्रस्तुत आलेख का आशय एक अज्ञात धरोहर के प्रति जानकारी देना मात्र है तथा इसके परिचयात्मक लिखित संदर्भ प्राप्त नहीं होते, अतः प्रत्यक्ष अध्ययन के आधार पर ही इसे लिखा गया है। यद्यपि यह आलेख उक्त धरोहर के प्रति यथोपलब्धि माना जा सकता है, इन मंदिरों का व्यापक और सूक्ष्म अध्ययन किसी पुरातत्वविद् द्वारा किया जाना शेष है, परन्तु इस सबसे पहले अति आवश्यक है इन्हें रक्षित कर बचाना।

जैकी स्टूडियो, 13 मंगलपुरा स्ट्रीट,
झालवाड़ा-326001 (राज.)

●

राजस्थान की ऋण प्रणाली में कतिपय विवाद एवं निर्णय (18वीं 19वीं शताब्दी)

डॉ. कुलवन्त सिंह शेखावत

प्राचीन भारत की ऋण प्रणाली में ब्याज दरों, ऋण वसूली की विधियों और ऋणदाता-ऋणी के परस्पर व्यवहार आदि पक्षों पर जातक ग्रन्थों, स्मृतियों एवं धर्मशास्त्रों में विशद चर्चा की गई हैं।[1] मध्यकालीन ऋण प्रणाली में राजस्थान में व्यवहारगत प्रचलित नियमों सम्बन्धी मौलिक एवं प्रामाणिक सूचनाएँ सेठ-साहूकारों की बोरगत बहियों एवं देशी राज्यों के अभिलेखागारीय दस्तावेजों से प्राप्त होती हैं। साहूकार ऋण देते समय ऋणी की सहमति से उस दिन को शुभ मानकर ऋण पत्र का मसौदा (राजस्थानी भाषा में) तैयार करता था जिसमें ऋणी के साथ जमानतियों का भी नामोल्लेख होता था। इन ऋण पत्रों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि साहूकार अपनी ऋण राशि के पुनर्भरण के लिए अपने पक्ष की स्थिति सुदृढ़ रखता था। ऋणी को सामाजिक एवं नैतिक रूप से पाबंद किया जाता था। इसके लिए ऋणी 'धणी मांगे जद देसी', 'उजर करण पाबेन्ही' की शपथ लेता था।[2] ऋण की अदायगी न होने पर जमानती स्वयं (घराघरू) भुगतान करने का वचन देते थे। जिसके लिए घरा घरू शब्द का प्रयोग किया जाता था।[3]

मध्यकालीन साहूकारी व्यवसाय में किसी वस्तु को गिरवी (अडाणा) रखकर ऋण देने का व्यापक प्रचलन था। मकान, दुकान, आभूषण एवं खेत आदि गिरवी रखकर ब्याज एवं ऋण राशि की प्राप्ति सुनिश्चित की जाती थी।[4] यद्यपि ऋणपत्र तैयार करते समय सभी पक्षों की स्पष्ट विवेचना की जाती थी, फिर भी यदि ऋणी-ऋणदाता का आपसी लेन-देन के व्यवहार में कोई बेईमानी, धोखेबाजी, छल-कपट हो जाये तो वह विवाद राज्य न्यायालय में सुलह हेतु जाता था। ज्ञातव्य है कि राजस्थान के जोधपुर और बीकानेर राज्य की न्यायिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था पर प्रकाश डालने वाले अभिलेखागारीय दस्तावेज राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर में सुरक्षित हैं। बीकानेर राज्य की 'कागदों री बहियों' एवं जोधपुर राज्य की 'सनद परवाना बहियों' में उपलब्ध कुछ दस्तावेजों के अध्ययन से ऋण सम्बन्धी विवादों का पता चलता है। इन विवादों का देशी राज्यों के न्यायालय द्वारा निपटारा किया गया था। यहां 'अडाणा' ऋण से सम्बन्धित कुछ विवादों के माध्यम से तत्कालीन ऋण प्रणाली में प्रचलित व्यवहारमूलक नियमों की भी जानकारी मिलती है। इस लेख में पाँच विवादस्पद

मामलों को लिया गया है ।

1. सनद परवाना बही नं. 105 में उल्लेख मिलता है कि जोधपुर राज्य के साहूकार बैणीराम के पास संवत् 1865 (1808 ई.) में तेली मुसता अल दादरी ने एक धान का कोठा (अनाज कोष्ठागार) अडाणे रखा था जिसे 1812 ई. में उसकी पुत्री अणदे ने अन्य साहूकार के पास गिरवी रख दिया था। इसे लेकर बैणीराम और अन्य साहूकार के बीच विवाद हुआ तो इस पर जोधपुर राज्य ने साहूकार बैणीराम व्यास के पक्ष में निर्णय दिया।[5]

2. कागदों-री-बही नं. 5 के अनुसार बीकानेर राज्य के साहूकार कपूर साहू के पास लामु लखेरा ने अपनी दुकान गिरवी रखी थी जबकि उसी दुकान के लिए उसने केशवदास नामक व्यक्ति से अग्रिम किराया ले रखा था। ऐसी स्थिति में राज्य ने साहूकार कपूर साहू एवं ऋणी लामू लखेरा की भूमिका की जाँच के निर्देश देते हुए कहा कि दोनों में से जो भी दोषी होगा उसे ऋण राशि ब्याज सहित अदायगी के साथ गुनेहगारी (आर्थिक दंड) भी अदा करनी होगी।[6]

3. जोधपुर राज्य की परबतसर कचैड़ी (न्यायालय) में एक ऐसा विवाद आया जिसमें साहूकार बगसीराम के पास हिन्दुमल की दुकान अडाणे रखी थी। हिन्दुमल ऋण राशि चुकाकर दुकान पुनः प्राप्त करना चाहता था लेकिन बगसीराम ने मना कर दिया। विवाद कचैड़ी पहुंचने पर आदेश हुआ कि बगसीराम हिन्दुमल से रुपया लेकर दुकान उसे सौंप दे।[7]

4. बीकानेर राज्य के पास एक ऐसा अडाणा विवाद आया जिसमें भोमू लौहार ने अपना घर साहूकार को गिरवी रखा। साहूकार ने ऋणपत्र को सेठ जोशी को बेच दिया। परन्तु लौहार ने जोशी को भोग (किराया) भरने से इंकार कर दिया। कागदों री बही नं. 5 के अनुसार राज्य ने न्याय करते हुए आदेश दिया कि लौहार का मकान मरम्मत करवाकर उसे ही दे दिया जाए तथा मरम्मत में लगने वाला धन (ऋण राशि में) समायोजित कर लिया जाए। इस मामले में राज्य द्वारा पांच लोगों-- गजेधर, जयकिशन, माणक, मेघु पुरोहित एवं मेघराज जोशी को साक्षी भी बनाया गया।[8]

5. चुरु के गैंगु लक्ष्मण लखोटिया के पूर्वजों का 700 बीघा का खेत एक साहूकार के पास गिरवी था। जब साहूकार ने खेत को ठेके पर देना चाहा तो विवाद हो गया जिस पर फैसला सुनाते हुए राज्य ने आदेशित किया कि साहूकार चाहे तो खेत पर खेती करे या उसे ठेके पर दे सकता है।[9]

मामलों के निर्णय सामान्य व्यवहार में थे या केवल उक्त मामलों में ही ऐसे निर्णय सुनाये गये, यह अध्ययन का विषय है इन विवादों के सुक्ष्म अध्ययन एवं विश्लेषण से समकालीन ऋण प्रणाली में प्रचलित नियमों एवं प्रावधानों की जानकारी मिलती है जिन्हें निम्न प्रकार से निरूपित किया जा सकता हैं-

1. किराये पर दी गई संपति को गिरवी नहीं रखा जा सकता था ऐसा करने पर साहूकार एवं ऋणी दोनों को दोषी माना जाता था।

2. साहूकार को अडाणा रखे खेत के उपयोग के सम्बन्ध में स्वतन्त्रता प्राप्त थी। साहूकार उस खेत पर चाहे तो कृषि करे या उसे किसी अन्य व्यक्ति को ठेके पर दे सकता था।

3. एक बार गिरवी रखी दुकान, मकान, खेत आदि को ऋणी अन्य महाजन के पास गिरवी नहीं रख सकता था ।

4. ऋणी को, ऋण राशि की अदायगी करके अपनी संपति प्राप्त करने का पूर्ण अधिकार था। उस पर साहूकार अपने अधिकार की समयावधि नहीं बढ़ा सकता था।

5. साहूकार अपने द्वारा बनाए ऋण पत्र को अन्य साहूकार को स्थानान्तरित नहीं कर सकता था ऐसा करने पर ऋणी दूसरे साहूकार के अनुबंध को मानने के लिए बाध्य नहीं होता था और वह उस ऋण समझौते को भंग भी कर सकता था ।

इस काल की देशी साहूकारों द्वारा अपनायी जाने वाली ऋण प्रणाली के अध्ययन से स्पष्ट है कि ऋण के लेन-देन में विवाद के मामले उनमें राज्य द्वारा किये गये निर्णयों को समकालीन व्यवस्था में प्रचलित नियमों एवं प्रावधानों के साथ राज्य द्वारा प्रतिष्ठित व्यक्तियों एवं पंचायतों को निर्णयों को लागू करवाने में सतत भूमिका निभाई जाती थी। उल्लेखनीय है कि समकालीन ऋण प्रणाली में ऋणी ऋणदाता सम्बन्धों में प्रचलित नियमों की देशी राज्यों के न्यायालयों की ऐसे विवादों के निपटारे में भूमिका थी, इसके साथ ही जमानतियों की प्रभावपूर्ण स्थिति, उनकी सामाजिक प्रतिबद्धता एवं राज्यों के प्रशासनिक अधिकारियों द्वारा राज्य के निर्देशानुसार की जाने वाली कार्यवाही की भी रोचक जानकारी मिलती है। स्पष्ट है कि 18वीं एवं 19वीं शताब्दी में ऋण प्रणाली में उत्पन्न विवादों एवं उन पर दिये गये निर्णयों से कई नवीन पक्षों की जानकारी मिलती है।

संदर्भ

1. प्रो. राधाकुमुद मुखर्जी 'हिन्दु सभ्यता' राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली 1998 पृ. 298-99, डॉ एस.के.मैती, 'इकॉनमिक लाईफ इन नॉर्थन इण्डिया गुप्त पिरियड (300-550 सेन्चूरी)' मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, 1970, पृ. 230-32, प्रो. रामशरण शर्मा 'प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास' नई दिल्ली, 1993 पृ. 240-42।

2. ऋणपत्र, फाल्गुन बदी चतुर्थी, संवत् 1832 (1775 ई.) लोकमणी संग्रह बही, भारतीय विद्या मन्दिर शोध प्रतिष्ठान, बीकानेर।

3. श्री श्याम सुन्दर पोद्दार संग्रह कागज नं. 67 वि.सं. 1890 (1833 ई.) लोक संस्कृति शोध संस्थान, नगर श्री चूरू, मरु-श्री चूरू, जनवरी-जून 1980, पृष्ठ 25-26।

4. डॉ. बी.एल. गुप्ता, 'ट्रैड एण्ड कॉमर्स इन राजस्थान ड्यूरिंग एटीथ सेन्चुरी' जयपुर 1987 पृष्ठ 162-64 कुलवन्त सिंह शेखावत 'मध्यकालीन राजस्थान की अडाणा ऋण पद्धति' रासो, सृजन संस्थान अजमेर मई 2005, पृष्ठ 86-95।

5. सनद परवाना बही नं. 105, वि.सं. 1899 (1842 ई.) जोधपुर रिकॉर्डस, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर (रा.रा.अ.बी.)।

6. कागदों-री-बही नं. 05, वि.स. 1838 (1781 ई.) बीकानेर रिकॉर्डस, रा.रा.अ.बी.।

7. सनद परवाना बही नं. 116, वि.स. 1906 (1849 ई.) जोधपुर रिकॉर्डस, रा.रा.अ.बी.।

8. कागदो-री-बही नं. 05, वि.स. 1838 (1781 ई.) बीकानेर रिकॉर्डस, रा.रा.अ.बी.।

9. कागदो-री-बही नं. 29, वि.स. 1880 (1823 ई.) बीकानेर रिकॉर्डस, रा.रा.अ.बी.।

(सहायक आचार्य
इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर)
ए 17 मरुधर विहार, खातीपुरा,
जयपुर- 302012
E-mail : kshekhawat78@gmail.com
मो.- 9460143548

●

किसी एक ही दिशा में झुक जाना अंधानुकरण है। - रवीन्द्रनाथ ठाकुर

अंधश्रद्धा के क्या मायने ? तर्क 'ईश्वर जाने' इस श्रद्धा का नाम अंधश्रद्धा है। - विनोबा भावे

अकर्मण्यता मृत्यु है। - मुसोलिनी

कुछ नहीं करोगे तो कुछ नहीं बनोगे। - होब

शिमला क्षेत्र के मेले एवं त्योहारों का सांस्कृतिक अनुशीलन

ममता कुमारी

शिमला क्षेत्र प्राचीन काल से ही अपनी लोक संस्कृति के साथ-साथ भारतीय संस्कृति का संवाहक रहा है। यह क्षेत्र सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और ऐतिहासिक मान्यताओं के कारण अपना अलग स्थान व महत्त्व रखता है। शिमला क्षेत्र वर्ष भर चलने वाले त्योहारों के अवसर यहाँ के जनसमुदाय के लिए हमेशा मनोरंजन के साधन रहे हैं। शिमला क्षेत्र के मेले त्योहार यहाँ के लोक जीवन की लोक संस्कृति में विशिष्ट स्थान रखते हैं। मेले और त्योहारों में हमारे आचार-विचार, वेश-भूषा, रहन-सहन, खान-पान के विषय में भी हमें जानकारी मिलती हैं। इन मेले एवं त्योहारों के द्वारा हमारे सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों को संरक्षण मिलता है। समाज में परस्पर विश्वास तथा एकता को कायम रखने के लिए त्योहार एवं मेले सबसे सुदृढ़ कड़ियां हैं। इस प्रकार के मेले व त्योहारो जैसे रोहडू मेला, लवी मेला, भैसा का मेला, धामी का पत्थर खेल, शाँत, भुण्डा, लोहड़ी, बसन्त पंचमी, विशु चिडौल, बूढी दीवाली आदि यहाँ की प्राचीन सांस्कृतिक धरोहर एवं विरासत के जीवन्त उदाहरण हैं। शिमला क्षेत्र अपनी लोक संस्कृति के लिए अत्यन्त समृद्ध है। शिमला क्षेत्र के मेले एवं त्योहार आज भी यहाँ के जीवन को जीवन्त बनाए हुए हैं।

[**शब्द बीज -** चिडौल, बिशु, फाग, जातर, भुण्डा, शाँत, शिखा फेर, मालपूड़े।]

हिमालय की गोद में बसा हिमाचल का एक जिला शिमला है। शिमला क्षेत्र हिमाचल प्रदेश के मध्य भाग में स्थित है जिसे भीमापीठ भी कहा जाता है। यह क्षेत्र आज भी लोगों के लिए पुराने इतिहास का केन्द्र है। शिमला क्षेत्र में स्थित श्यामला देवी के नाम पर इस क्षेत्र का नामकरण हुआ है। इसके पूर्व में ढिंगू देवी, पश्चिम में कामना देवी तथा दक्षिण में तारादेवी विद्यमान हैं। इन तीनों को मिलाने पर जो त्रिकोण बनता है, वह त्रिगुणात्मक प्रकृति का वास्तविक सत्, रज तथा तम रूप है। इन तीनों माताओं के मध्य में श्यामला देवी विद्यमान है और इसी श्यामला या श्यामा देवी के नाम पर इसका नाम शिमला पड़ा है। साहित्यकार एस. आर. हरनोट के अनुसार, 'आजकल जहाँ कालीबाड़ी का विशाल मन्दिर तथा भवन स्थित है, प्राचीन समय में वहाँ महाशक्ति श्यामा देवी का काले पत्थरों से बना एक छोटा-सा मन्दिर था उसमें एक साधु रहता था। उस काल में इस देवी की बहुत मान्यता थी, बहुत से अंग्रेज़

अफसरों को देवी के चमत्कार देखने को मिले, जिनका उन्होंने बहुत सी किताबों में वर्णन किया है। इसी महाशक्ति श्यामा के कारण शिमला पुकारा जाने लगा।'[1] शिमला क्षेत्र को यह नाम सर्वप्रथम अंग्रेज़ केप्टन अलेग्जैण्डर ने दिया था हि. प्र. में जिस प्रकार शलूनी माता से सोलन क्षेत्र का नामकरण हुआ, उसी प्रकार श्यामला देवी के नाम से शिमला क्षेत्र का नामकरण हुआ।

शिमला क्षेत्र ने अपने दो सौ वर्षों की अवधि में अनेक उतार-चढ़ाव देखे हैं। अंग्रेज सरकार ने सन् 1822 ई. में केप्टन चार्लस् पराट कनेडी को पर्वतीय राज्यों के अधीक्षक के रूप में शिमला में नियुक्त किया था। इसी ने यहाँ प्रथम पक्का गृह 'कनेडी हाउस' के नाम से सन् 1825 ई. में बनाया। सन् 1864 ई. में अंग्रेजों ने इसकी महत्ता को देखकर इसे ग्रीष्मकालीन राजधानी घोषित किया। स्वतन्त्रता से पूर्व शिमला पूर्वी पंजाब की राजधानी बनाई गई। रूप शर्मा के अनुसार, 'इस प्रकार सन् 1876 ई. में शिमला पूर्वी पंजाब की राजधानी बनाई गई।'[2] शिमला नगर सन् 1942 ई. से सन् 1945 ई. तक निर्वासित बर्मा सरकार का मुख्यालय भी रहा। सन् 1948 के पश्चात शिमला क्षेत्र दिन-प्रतिदिन उन्नति की ओर अग्रसर होता जा रहा है। शिमला क्षेत्र अपनी खूबसूरती के लिए विश्व भर में विख्यात है। इस क्षेत्र में अधिकतर पर्वत शीतकाल में बर्फ की सफेद चादर ओढ़े हुए रहते हैं, जिन्हें देखने के लिए साल भर सैलानियों की भीड़ लगी रहती है। अतः हिमाचल प्रदेश के समस्त क्षेत्रों में शिमला क्षेत्र का ऐतिहासिक, सामाजिक, भौगोलिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से अपना अलग ही स्थान है।

मेले और त्योहार हमारी सांस्कृतिक धरोहर हैं। मेले और त्योहार मानव के हर्षोन्माद तथा श्रद्धा भावना के परिचायक हैं। त्योहार और मेले मनाने की प्रथा मानव जाति में अति प्राचीन काल से चली आ रही है। लोककथाकार नगेन्द्र के अनुसार, मेले एवं त्योहार हमारी समृद्ध संस्कृति की धरोहर हैं वहीं ये आपसी भाईचारे को भी बढ़ावा देते हैं। मेलों के माध्यम से युवक व युवतियों को अपने हस्तशिल्प तथा सांस्कृतिक कार्यक्रमों को प्रदर्शित करने का अवसर प्राप्त होता है। अतः इसके बिना मानवीय समाज, सभ्यता और उसका कलात्मक स्वरूप अधूरा है, मेले एवं त्योहार हमें परस्पर बांधे ही नहीं रखते अपितु जीवन की सार्वभौमिकता का स्पष्ट आकलन भी करते हैं। मेलों और त्योहारों का सम्बन्ध किसी न किसी ऐतिहासिक, पौराणिक एवं धार्मिक भावना से है। शिमला क्षेत्र में मेले एवं त्योहारों को मनाने की विशेष परम्परा है।

मेले

प्राचीन समय से ही मेलों का महत्त्व रहा है। मेले के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए इतिहासकार रूप शर्मा लिखते हैं, 'मेलों से लोग सारे वर्ष के लिए आवश्यक वस्तुएँ ले जाते हैं और अपनी बनी वस्तुओं (कम्बल, दोहडू, पट्टू) आदि को वहाँ बेचकर धन कमाते हैं। इन मेलों में लोग अपने परम्परागत पहनावे के साथ भाग लेते हैं।'[4] अतः लोगों की प्राचीन समय से ही इन मेलों में रुचि है। शिमला क्षेत्र में अनेक मेलों का आयोजन किया जाता है जिनका वर्णन इस प्रकार से है -

लवी का मेला - लवी के मेले को भारत में सबसे विशाल व्यापारिक मेले की संज्ञा दी जाती है। लवी की उत्पत्ति 'लोई' शब्द से हुई है जो ओढ़ने के काम में लाई जाती है। लवी मेला प्रत्येक वर्ष 11 से 14 नवम्बर तक मनाया जाता है। सन् 1984 ई. में लवी को राज्य स्तरीय तथा सन् 1994 ई. में अन्तर्राष्ट्रीय स्तरीय मेला, तत्कालीन मुख्यमन्त्री राजा वीरभद्र सिंह द्वारा घोषित किया गया था। इस मेले के सम्बन्ध में साहित्यकार नागेन्द्र शर्मा का विचार है, 'लवी मेले के आयोजन में भले ही प्रदेश भर में मनाये जाने वाले मेलों की तरह कोई विचित्रता या विविधता न रहती हो परन्तु इसके आयोजन में जो प्रमुख बात है वह है

बुशहर रियासत की तिब्बत से चिर मैत्री रही, इसी कारण लवी मेला सर्वप्रथम तिब्बत एवं बुशहर के मध्य एक समझौते के परिणामस्वरूप सन् 1682 ई. में हुआ था, लेकिन भारत-चीन की लड़ाई जो सन् 1962 ई. में हुई थी ने इसकी महत्ता को कम कर दिया।[5]' अतः रामपुर बुशहर का लवी मेला एक ऐतिहासिक एवं व्यापारिक मेला है जिसमें शिमला के साथ कुल्लू, किन्नौर तथा लाहौल-स्पीति की संस्कृति की झलक भी देखने को मिलती है। इस मेले में पशम, ऊन, ऊनी पट्टियां, गुदम, चिलगोजे, पट्टू, शालें, मोज़े, सूखे मेवे, बादाम आदि का क्रय-विक्रय होता है। यही नहीं बल्कि मेले में किन्नौर की भेड़-बकरियाँ व घोड़ों का भी विशेष बाज़ार लगता है। मेले में विभिन्न विभागों द्वारा प्रदर्शनियों के साथ सांस्कृतिक कार्यक्रमों का भी आयोजन किया जाता है। परम्परागत वेशभूषा में सजे जन-जातीय लोगों को देखने से वहाँ की संस्कृति की मनमोहक एवं मर्मस्पर्शी झाँकी दिखाई पड़ती है।

फाग मेला - यह प्रसिद्ध मेला रामपुर बुशहर में चैत्र मास में आयोजित होता है। यह मेला होली के अगले दिन मनाया जाता है। प्राचीन काल में यहाँ के लोग इस दिन एक-दूसरे पर रंग डालते थे और आपस में गले मिलते थे परन्तु अब ऐसा नहीं दिखाई देता। इस अवसर पर इस क्षेत्र के देवी-देवता आमन्त्रित किए जाते हैं जो अपनी साज-सज्जा से विभूषित लोकनृत्य मण्डली सहित बड़ी शान-बान से मेले में भाग लेते हैं। देवी-देवताओं की शोभायात्रा रामपुर के मुख्य बाजार से होते हुए राजदरबार में पहुँचती है। यहाँ देवी-देवताओं का भव्य स्वागत किया जाता है। दोपहर के समय पदम महल के प्रांगण में केवल देवी-देवताओं के साथ आए नर्तक दल ही नहीं अपितु दर्शक लोग भी पारम्परिक नृत्य (नाटी) लगाते हैं, जिसमें देवताओं के बजन्तरी (बजाने वाले) लोग मध्य में बैठते हैं और चारों तरफ नाटी करते हैं। इस मेले को यहाँ के लोग बहुत ही हर्षोल्लास के साथ मनाते हैं। यह मेला फागुन मास में मनाए जाने के कारण फाग मेला कहलाता है।

रोहड़ू मेला - अतीत के पन्नों को पलटा जाए तो रोहड़ू क्षेत्र धार्मिक एवं सांस्कृतिक उत्सवों के लिए विख्यात रहा है। रचनाकार जगमोहन बलोखरा के अनुसार, 'कालान्तर में यह मेला राज्य स्तर के दर्जे से अलंकृत हुआ है। तीन दिन तक यह मेला चलता है। लोगों की भारी-भरकम भीड़ मेले में शिरकत करने के लिए आती है। आपसी भाईचारे और स्नेह की झलक सहज ही देखी जा सकती है। लोगों का मित्र-मिलन त्योहार की रौनक को चौगुना कर देता है।'[6] इस मेले का मुख्य आकर्षण स्थानीय देवता शिकडू महाराज हैं। वह रथ में विराजमान होकर पूरे नगर की परिक्रमा करते हैं। बसन्त ऋतु में लगने वाले इस मेले की रौनक देखने योग्य होती है। स्थानीय कलाकारों को अपना हुनर (कला) व बाहरी राज्यों एवं जिलों से आने वाले कलाकारों को अपनी प्रतिभा दिखाने का सुअवसर प्राप्त होता है तथा खिलाड़ियों को अपने खेल दिखाने का अवसर मिलता है। इस मेले में सांस्कृतिक कार्यक्रमों की धूम रहती है। शिकडू महाराज का नृत्य तो दर्शकों में कौतूहल पैदा कर देता है। इस मेले के प्रति लोगों के उत्साह में आज भी कोई कमी नहीं आई है।

धामी का पत्थर खेल - शिमला से लगभग 25 किलोमीटर की दूरी पर स्थित धामी गाँव में दीपावली के दूसरे दिन पत्थर मारने का अनोखा खेल आयोजित होता है। खेल-स्थान को खेल का चौरा या सती का चौरा कहते हैं। इतिहासकार रूप शर्मा के अनुसार, 'इस खेल में भाग लेने वाले लोग दो दलों में विभाजित होकर आमने-सामने दो टीलों पर खड़े होकर एक-दूसरे दल पर पत्थर मारने लगते हैं। इन टीलों के समीप ही एक पहाड़ी पर काली माता का प्राचीन मन्दिर है। यहाँ इस दिन एक विशाल मेले का आयोजन होता है।'[7] पत्थर खेल के आरम्भ होने पर पत्थरों से घायल प्रथम व्यक्ति को माता के मन्दिर तक

लाया जाता है। उस समय शंख, नगाड़ा, ढोल आदि वाद्ययन्त्रों की मधुर धुनों पर स्थानीय पुरुष और महिलाएँ लोकनृत्य एवं नाटी प्रस्तुत करते हैं। वास्तव में पत्थर का यह खेल देव और दानवों का खेल है। प्राचीन समय में इस दिन एक नर की बलि भी दी जाती थी परन्तु आज यह प्रथा समाप्त है।

भैंसा का मेला (झोटे का मेला) - शिमला के समीप मशोबरा नामक स्थान में सायर की संक्रान्ति के दिन इस मेले का आयोजन किया जाता है। इसके नामकरण का मुख्य कारण इस मेले का आकर्षण भैंसों का युद्ध होना है। इसे झोटा मेला के नाम से भी पुकारा जाता है। इस दिन यहाँ बलि देने की प्रथा भी थी, अब यह प्रथा समाप्त हो चुकी है। वर्तमान में भैंसों का युद्ध होता है। इस दिन दूर-पार के लोग अपने-अपने झोटों को इस स्थान पर लाते हैं तथा उन्हें आपस में भिड़ाते हैं। विजयी भैंसा को कुछ ईनाम भी दिया जाता है। इस मेले में स्थानीय लोग खूब आनन्द लेते हैं।

अनोखी डाली का मेला - यह मेला शिमला से कुछ किलोमीटर दूर जुब्बड़हट्टी नामक स्थान के समीप नवम्बर मास में आयोजित होता है। इसे अनोखी डाली का मेला इसलिए पुकारा जाता है क्योंकि यह मेला जिस स्थान पर आयोजित होता है वहाँ एक अनोखा वृक्ष है। इस मेले में अनेक खेलों और सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन किया जाता है।

नवरात्र मेले - शिमला क्षेत्र का भूभाग शक्ति का क्रीडा स्थल रहा है। यहाँ शक्ति को दुर्गा माता, काली माता, तारा माता तथा अन्नपूर्णा माता आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है। वर्ष में चैत्र एवं आश्विन मास में आने वाले नवरात्रों के पर्व पर क्षेत्र में शक्ति के विभिन्न पीठों में मेलों का आयोजन होता है। जिनमें अनेक भक्तगण आकर आनन्द विभोर हो उठते हैं। इन मेलों में मुख्यतः भीमाकाली मन्दिर का मेला, सराहन का मेला, हाटकोटी माता मन्दिर मेला, शिमला के समीप तारादेवी माता मन्दिर का मेला, अष्टभुजा मन्दिर का मेला, घरोच का मेला आदि प्रमुख हैं।

भुण्डा महायज्ञ - शिमला क्षेत्र में भुण्डा महायज्ञ का आयोजन किया जाता है। यह मुख्यतः रोहड़ू, रामपुर आदि स्थानों पर मनाया जाता है। भुण्डा महायज्ञ की परम्परा कहाँ से शुरू हुई यह तथ्य बहुत ही रुचिपूर्ण है। यह महायज्ञ पौराणिक तथा वैदिक है। एक जनश्रुति के अनुसार इस महायज्ञ का सम्बन्ध परशुराम से है। परशुराम के पिता ऋषि जमदग्नि को एक निरंकुश क्षत्रिय शासक सहस्रबाहु ने मार दिया था। जब परशुराम को उसकी माता रेणुका ने विलाप करते हुए यह दुःखद समाचार सुनाया तो परशुराम ने क्रूर क्षत्रियों को समाप्त करने की प्रतिज्ञा की और दुष्टों का संहार कर सके। रचनाकार नागेन्द्र शर्मा के अनुसार, 'यजुर्वेद में वर्णित विधि-विधान के अनुसार परशुराम ने नरमेध का आयोजन किया था। इसके लिए उन्होंने भारत के विभिन्न भागों से चारों वेदों के जानकार विद्वान ब्राह्मणों को निमन्त्रण दिया। यह यज्ञ लगभग दो वर्ष तक चला, जिसमें क्षत्रियों के सिरों की आहुतियां दी जाती थीं।'[8] इस प्रकार इस नरमेध यज्ञ की परम्परा प्राचीन है। दूसरी जनश्रुति के अनुसार भुण्डा महायज्ञ की उत्पत्ति भंडासुर से मानी जाती है। इस महायज्ञ की परम्परा का आरम्भ काव नामक स्थान तहसील करसोग, जिला मण्डी से हुई मानी जाती है। सबसे पहले भुण्डा महायज्ञ यहीं मनाया गया था। जिसके अवशेष आज भी कामाक्षा मन्दिर, काव में उपलब्ध हैं। काव के पश्चात इस महायज्ञ का आयोजन रामपुर के निरथ, दत्तनगर तथा रोहड़ू के पुजारली, कुई तथा छोआरा आदि में किया गया। इस प्रकार रोहड़ू में भी इस महायज्ञ का आयोजन होना आरम्भ हुआ। यह महायज्ञ प्रत्येक बारह वर्ष के पश्चात मनाया जाता है। इस महायज्ञ की तैयारी एक वर्ष पूर्व ही आरम्भ हो जाती है। भुण्डा की तिथि आने से छः या तीन माह पूर्व बेड़ा (ज्याली) जिसकी इस

महायज्ञ में महत्वपूर्ण भूमिका होती है, वह भुण्डा पर्व वाले गाँव में आ जाता है। स्थानीय लोगों द्वारा मूंज नामक घास काटी जाती है, जिसका प्रयोग चुने हुए व्यक्ति द्वारा रस्से बनाने के लिए किया जाता है। इसकी लम्बाई 100 या 150 गज के आसपास होती है। इस रस्से को कोई अपवित्र नहीं कर सकता। अपवित्र होने पर बकरे की बलि दी जाती है।

भुण्डा महायज्ञ का आरम्भ हवन कुण्ड से होता है। उत्सव वाले दिन रस्सा एक अति दुर्गम स्थान पर पहाड़ी की ऊँची चोटी से नीचे की ओर बांध दिया जाता है। रस्से को कुछ दिन पूर्व पानी में रखा जाता है जिसे उत्सव वाले दिन निकाला जाता है। लकड़ी की बनी पीढ़ी (सीट) को रस्से से बांध कर बेड़ा को उस पर बिठाया जाता है जिसके सन्तुलन के लिए रेत की बोरियां बंधी होती हैं। ठीक समय आने पर पुजारी के इशारे पर बेड़ा को रस्सी पर नीचे की तरफ छोड़ दिया जाता है। हजारों दर्शक इस दृश्य को दम साधे हुए देखते हैं। बेड़े या ज्याली के नीचे पहुँचते ही लोग खुशी मनाते हैं। यदि रस्सा टूट जाए और ज्याली मर जाए तो उसकी पूजा देवता रूप में होती है और यदि सुरक्षित नीचे आ जाए तो उसे देवता की पालकी की बाजुओं पर बैठा कर लोग नृत्य करते हुए उसे मन्दिर तक लाते हैं जहाँ उसे सभी लोग (पैसे) भेंट देते हैं। आज इसका आयोजन सम्पूर्ण क्षेत्र में सुख-शान्ति स्थापित करने के उद्देश्य से किया जाता है।

शाँत (शांद) महायज्ञ - रोहडू में आयोजित यह शांद महायज्ञ हर 25 वर्ष पश्चात श्रद्धाभाव से मनाया जाता है। इतिहासकार रूप शर्मा का कहना है, 'इस बार यह यज्ञ 9 दिसम्बर से 12 दिसम्बर 2004 को मनाया गया। इस महायज्ञ के समय रोहडू में कुम्भ की तरह का दृश्य देखने को मिलता है।'[9] इस महायज्ञ का आरम्भ होने पर इस क्षेत्र के सात देवता 'शिकडू देवता' से मिलते हैं। इनमें रण टाडी के मोहरीश देवता, पेरवा के नाग देवता, चिउनी के परशुराम और ढलाशन के किलू देवता प्रमुख हैं। ये समस्त देवता शिकडू देवता के अतिथि होते हैं। इन देवताओं के साथ हाथों में तलवारें बंदूकें लिए देवता के खुंदों और देवलुओं का अनूठा उत्साह दर्शनीय होता है। दूसरे दिन प्रातः सभी देवता शिखा फेर अर्थात रोहडू बाजार में परिक्रमा करते हैं। इस दिन बकरों की बलि दी जाती है। समस्त लोग इस महायज्ञ को बड़ी धूमधाम से मनाते हैं।

शिमला तथा डोडरा में क्वार अर्थात जून मास में **ग्रीष्मोत्सव** कई दिनों तक चलता है जिस क्षेत्र के निवासी बड़ी उत्सुकतापूर्वक मनाते हैं। शिमला का ग्रीष्मोत्सव तो अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुका है। इसी तरह **चूढ़धार का जातर, रोहडू का जातरे, सुन्नी का मेला, चौपाल का मेला, ठियोग का मेला** मनाए जाते हैं। शिमला क्षेत्र के प्रत्येक गाँव का अपना-अपना देवता है। इन देव स्थानों पर भी अनेक छोटे-मोटे मेलों का आयोजन होता रहता है। अतः शिमला क्षेत्र के मेले यहाँ के लोक जीवन की जन संस्कृति में विशिष्ट स्थान रखते हैं।

त्योहार

शिमला क्षेत्र में मेलो के साथ त्योहारों को बड़ी धूमधाम से मनाने की परम्परा है। शिमला के प्रमुख त्योहार निम्नलिखित हैं-

लोहड़ी - लोहड़ी या माघी का त्योहार सर्वप्रथम माघ माह में संक्रान्ति को मनाया जाता है। रोहडू में इसे 'पोष के साजे' नाम से मनाया जाता है तथा निचले भागों में इसे लोहड़ी या मकर सक्रान्ति कहते हैं। इस दिन माश और चावल की खिचड़ी बनाई जाती है जिसे घी या दही के साथ खाया जाता है। तिल एवं चावल को घी के साथ भून कर तिलचौली भी बनाई जाती है। ग्रामीण तिल के लड्डू भी बनाते हैं। इस दिन तीर्थ स्थानों में जाकर स्नान करना शुभ माना जाता है। रामपुर, रोहडू आदि क्षेत्रों के लोगों का विश्वास है कि इस त्योहार के बाद सृष्टि के सभी देवी-देवता एक मास के लिए बैकुण्ठ धाम को प्रस्थान करते हैं। इस त्योहार में पारम्परिक खास

व्यंजनों व स्थानीय उत्पादों का भोग लगता है।

महाशिवरात्रि - समूचे शिमला क्षेत्र में महाशिवरात्रि का त्योहार शिव-पार्वती के विवाहोत्सव के रूप में मनाया जाता है। इस दिन समस्त लोग व्रत रखकर शिव-पार्वती की आराधना करते हैं। लोग शिव मन्दिर में जाकर शिवलिंग पर दूध, बेलपत्रादि को चढ़ाते हैं। इस दिन संध्या के समय शिव-पार्वती और गणेश की मिट्टी की मूर्तियां बनाते हैं तथा रात को आराधना कर दूध, बेलपत्र एवं रोट चढ़ाया जाता है। सभी घरों में अनेक पकवान - मालपूड़े, पोलडू, बड़े, कचउरु, आटे के बकरे आदि बनाए जाते हैं। रात को लोग शिव-पार्वती की आराधना कर अपना व्रत तोड़ते हैं और सुबह होने पर शिव-पार्वती और गणेश की मूर्तियों को धूप एवं ताजा खाना चढ़ा कर उन्हें पानी के पास या बावड़ी में रखा जाता है।

होली - होली का त्योहार भी शिमला क्षेत्र में हर्षोल्लास से मनाया जाता है। इसे रंगों का त्योहार मानकर इस दिन बच्चों से लेकर बूढ़ों तक सभी लोग अपनी-अपनी टोलियाँ बनाकर रंग लेकर होली खेलते है। टोलियाँ ढोल बजाती है और नाचते हुए रंगों के इस त्योहार को बड़े ही धूमधाम से मनाते हैं।

बसन्त पंचमी - शिमला क्षेत्र में बसन्त पंचमी का त्योहार भी उसी तरह से मनाया जाता है जिस तरह अन्य त्योहार। शीतकाल के समय बर्फानी हवाओं के झोंकों से जब कांप उठते हैं तो उसके बाद बसन्त अपनी अनोखी छटा से आनन्द की लहर उत्पन्न कर देता है। इसी कारण बसन्त को ऋतुराज भी कहा जाता है। रचनाकार नागेन्द्र शर्मा के अनुसार, 'रामपुर बुशहर में इस दिन अयोध्यानाथ मन्दिर से काष्ठ से निर्मित रथ पर भगवान श्रीराम, सीता, लक्ष्मण व हनुमान आदि देवताओं की मूर्तियों को चाँदी से बनी नक्काशीदार पीढ़ी में रखकर जनसमुदाय द्वारा बाजार में ले जाया जाता है।'[10] इस दिन लोग पीले वस्त्रों को धारण करना अपनी शान समझते हैं।

बैसाखी (बिशु) - बैसाखी या बिशु या साजी (संग्राद) को भी शिमला में त्योहार के रूप में मनाया जाता है। इस त्योहार के कुछ दिन पूर्व ही लोग अपने घरों की लिपाई-पुताई करते हैं। घर में प्रतिदिन प्रयुक्त होने वाले वस्त्रों को धोया जाता है। इस त्योहार से एक-दो दिन पहले लोग मूंज नामक घास काटकर लाते हैं और उसकी रस्सी बनाकर उसमें ब्रांस (लाल फूल) लगाते हैं। बिशु वाले दिन ब्रांस के फूलों की माला को मकान के एक कोने से दूसरे कोने तक लगाया जाता है। इस दिन भी अनेक पकवान बनाए जाते हैं और अपने सगे-सम्बन्धियों एवं परिवार के अन्य सदस्यों को आमन्त्रित किया जाता है।

रामनवमी - रामनवमी शिमला क्षेत्र में धार्मिक आस्था के प्रतीक के रूप में मनाया जाता है। यह त्योहार चैत्र मास के नवरात्रों के समय मनाया जाता है। रामनवमी वाले दिन लोग भगवान राम के मन्दिरों में जाकर तथा उनके दर्शन पाकर अति प्रसन्न होते हैं। इस दिन ग्रामीण अपने घरों में तुलसी का पौधा रोपना या उसके बीज बोना अति शुभ मानते हैं।

रक्षाबन्धन - रक्षाबन्धन शिमला क्षेत्र में त्योहार के रूप में मनाने की परम्परा है। इस दिन बहने अपने भाई की कलाई पर राखी (रक्षा का प्रतीक) बांधती हैं। इस पर्व को भी बड़ी खुशी और चाव के साथ मनाया जाता है। बहने अपने भाई की कलाई पर राखी बांधकर ही अपना व्रत तोड़ती हैं। भाई इस राखी के बदले आशीर्वाद के रूप में कुछ उपहार देते हैं।

कृष्ण जन्माष्टमी - कृष्ण जन्माष्टमी भादो मास के कृष्ण पक्ष में अष्टमी को मनायी जाती है। इस दिन भगवान श्रीकृष्ण का जन्म रात के 12 बजे हुआ था। इस दिन लोग व्रत रखकर एवं श्रीकृष्ण की बाल मूर्ति को पालने में झुला कर उसकी पूजा करते हैं। मन्दिरों में रात भर जागरण चलता है। ठीक रात बारह बजे श्रीकृष्ण जन्मोत्सव के रूप में पूजा-अर्चना की जाती है और फलाहार खाया जाता है। मंदिरों में राधाकृष्ण की झांकियां निकाली जाती हैं। यह त्योहार पूर्ण श्रद्धा एवं हर्षोल्लास से मनाया जाता है।

चिडौल - शिमला क्षेत्र के ऊपरी इलाकों में भादो मास के प्रथम दिन (संक्रान्ति) को चिडौल के साजे के रूप में मनाया जाता है। इस दिन लोग अपने खेतों से या मन्दिर के प्रांगण से मिट्टी का टुकड़ा लाकर घर के एक कोने में रखते हैं। इसके चारों तरफ फूल और पत्तियाँ बांधते हैं। इस सजे हुए मिट्टी के टुकड़े को 'चिड़स' या 'चिड़ा' कहते हैं। इस पर अग्नि प्रज्वलित करके मौसमी फलों से इसकी पूजा करते हैं। तत्पश्चात उन फलों को प्रसाद स्वरूप परिवार के सदस्यों में बांटा जाता है।

विजयदशमी - विजयदशमी शरद ऋतु के प्रधान त्योहारों में से एक है। यह आश्विन मास शुक्ल दशमी तिथि को मनाया जाता है। इस दिन राम ने लंकापति रावण पर विजय पाई थी, इसी से इसको विजयदशमी कहते हैं। इस समय आने नवरात्रों में शिमला क्षेत्र के अनेक शहरों में रामलीला का आयोजन किया जाता। इसे देखने वाले राम महिमा से परिचित होते हैं तथा दसवें दिन राम द्वारा रावण, कुम्भकर्ण और मेघनाथ के पुतले जलाए जाते हैं। रामपुर बुशहर के सराहन में मनाए वाले दशहरे की अपनी पहचान है, जिसे सरकार ने जिला स्तरीय मेला घोषित किया है। शिमला के जाखू मैदान व जुन्गा के मैदान में विजयदशमी का त्योहार मेले के रूप में मनाया जाता

दीपावली - शिमला क्षेत्र के त्योहारों में दीपावली का अलग महत्त्व है। लंकापति रावण को मारकर वनवास के चौदह वर्ष समाप्त कर राम के अयोध्या आगमन पर हर्षोल्लास प्रकट करने हेतु दीपक जलाए गए थे। इसी पावन स्मृति में यह दिन शिमला क्षेत्र में बड़े समारोह से मनाया जाता है। इस त्योहार की तैयारी कई दिनों पहले आरम्भ हो जाती है। शिमला क्षेत्र में यह दो दिन चलती है - छोटी दीवाली और बड़ी दीवाली। लोग अपने-अपने घरों को सजाकर स्वयं इस दिन नए-नए वस्त्र पहनते तथा रात को लक्ष्मी माता की आराधना करने के पश्चात आतिशबाजी करते हैं और पटाखों की ध्वनि से सारा आकाश गूंज उठता, इसके साथ ही मिठाई और अनेक पकवानों को परस्पर बांटा जाता है और उनका रसास्वादन भी किया जाता है। रात के समय प्रत्येक गाँव में लोग सूखी लकड़ियाँ व घास विशेष स्थान पर इकट्ठा करके उसमें आग जलाते हैं जिसे ग्रामीण 'दवालठा' कहते हैं। परिवार के सभी लोग मिठाईयाँ और खील-बताशे एक-दूसरे को बांट कर खाते हैं। कार्तिक मास की अमावस्या को दीपमाला का यह दिन शिमला क्षेत्र में बड़े ही हर्षोल्लास के साथ मनाया जाता है।

भैयादूज - भैयादूज भी यहाँ के प्रमुख त्योहारों में से एक है। इस दिन बहनें अपने भाइयों को खील-बताशे व अखरोट के साथ रुमाल या वस्त्र भेंट करती हैं। इस दिन भी प्रत्येक घर में रिश्तेदारों का आना-जाना लगा रहता है और घरों में अनेक पकवान पकाए जाते हैं।

बूढ़ी दीवाली (दियावड़ी का साजा) - यह विशेष त्योहार शिमला क्षेत्र के रोहडू, रामपुर भागों में मनाया जाता है। दीपावली पर्व का सम्बन्ध दानवीर राजा बली से है जिससे वामन ने तीन कदम भूमि मांगी थी। दो कदमों में पूरी भूमि नाप लेने पर तीसरा कदम वामन ने बली के सिर पर रखा तो बली पाताल लोग में चला गया, उसी ने भगवान वामन से दीपावली पर्व को अपनी याद में मनाने के लिए प्रार्थना की थी, जो आज तक विधिवत मनाया जाता है। इस दिन बूढ़ी दीवाली मेला लगता है।

निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि ये मेले और त्योहार मानव की सामाजिक चेतना के क्रमिक विकास के लिए एक प्रकार से ऐतिहासिक संस्मरण हैं। मानव ने जब कबीले के रूप में बसना प्रारम्भ किया होगा तभी से उसकी पनपने वाली सामाजिक चेतना और संघ भावना ने यज्ञ या पूजा की शुरुआत की होगी। प्रेरणा और आनन्द प्राप्ति के सामूहिक गीतों, त्योहारों और मेलों को आरम्भ किया। यही सामूहिक मंगलमय भावना उत्सवों का रूप धारण

करती गई और मनुष्य समाज की अनेक परम्पराओं में बंधकर धर्म और राष्ट्रहित के रूप में सांस्कृतिक गौरव का प्रतीक बन गई। इस प्रकार मेले व त्योहार लोक जीवन के सबसे बड़े सांस्कृतिक प्रतिनिधि होते गए। उत्सवों को रचने की प्रेरणा मन और प्रकृति से मिलती है। प्राकृतिक नैसर्गिक सौन्दर्य जैसे सदा कला सृजन को प्रेरणा देता है, वैसे ही प्रकृति ने उत्सवों के सृजन की प्रेरणा प्रदान की। लोक भावना ही उत्सवों तथा मेलों की जननी है। हिमाचल के त्योहारों और मेलों के मूल में भी यही भावना काम करती है।

शिमला क्षेत्र के त्योहारों एवं मेलों की अपनी अलग पहचान है। वर्तमान समय में यहाँ के लोक जीवन में पर्व, त्योहार, मेले अभिन्न अंग बन चुके हैं। इन त्योहारों के अवसर पर लोग रंग-बिरंगे वस्त्र पहनकर नाचते गाते हैं। इन मेलों में जाकर अपने सुख-दुःख को बांटने का प्रयास करते हैं। यहाँ पर गाँव और परगने में वर्ष भर कई त्योहारों मेलों का आयोजन होता है। हर मेले तथा त्योहार का सम्बन्ध धार्मिक या स्थानीय लोक विश्वासों पर आधारित होता है। अतः ये मेले व त्योहार यहाँ के मानव की सामाजिक जागृति के प्रतीक हैं। जीवन का संघर्ष एवं उल्लास मेले त्योहारों पर देखने को मिलता है। इन सभी पर्वों स्थानीय खान-पान की वस्तुओं को भी देखा जा सकता है। सब मेले त्योहार लोक जीवन की संस्कृति को अभिव्यक्त करते हैं।

सन्दर्भ

1. एस.आर. हरनोट, हिमाचल के मन्दिर व उनसे जुड़ी लोककथाएं, मिर्नवा बुक हाउस, प्रथम संस्कारण, 1991, पृ. 171, 172।

2. रूप शर्मा, हिमाचल प्रदेश : अन्धकार से प्रकाश की ओर, करण प्रकाशन, बलद्वाडा, मण्डी, प्रथम संस्करण 2006, पृ. 634।

3. नागेन्द्र शर्मा, हिमालय का उत्तरांचल, रामपुर बुशहर, शास्त्री कालोनी, अम्बाला छावनी, प्रथम संस्करण, 1996, पृ. 113।

4. रूप शर्मा, हिमाचल प्रदेश : अन्धकार से प्रकाश की ओर, करण प्रकाशन, बलद्वाड़ा, मण्डी, प्रथम संस्करण 2006, पृ. 631।

5. नागेन्द्र शर्मा, हिमालय का उत्तरांचल, रामपुर बुशहर, शास्त्री कालोनी, अम्बाला छावनी प्रथम संस्करण, 1996, पृ. 115।

6. जगमोहन बलोखरा, अलौकिक प्रदेश, ए. जी. पब्लिकोनस, नई दिल्ली प्रथम संस्करण, 2015, पृ. 133।

7. रूप शर्मा, हिमाचल प्रदेश : अन्धकार से प्रकाश की ओर, करण प्रकाशन, बलद्वाड़ा, मण्डी, प्रथम संस्करण 2006, पृ. 645।

8. नागेन्द्र शर्मा, हिमालय का उत्तरांचल, रामपुर बुशहर, शास्त्री कालोनी, अम्बाला छावनी, प्रथम संस्करण, 1996, पृ. 101।

9. रूप शर्मा, हिमाचल प्रदेश : अन्धकार से प्रकाश की ओर, करण प्रकाशन, बलद्वाड़ा, मण्डी, प्रथम संस्करण 2006, पृ. 629।

10. नागेन्द्र शर्मा, हिमालय का उत्तरांचल, रामपुर बुशहर, शास्त्री कालोनी, अम्बाला छावनी, प्रथम संस्करण, 1996, पृ. 106)।

हिन्दी विभाग, विज्ञान एवं मानविकी संकाय
एस. आर. एम. विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी
संस्थान, कट्टनकुलाथुर, चेन्नई (तमिलनाडू)
मो.- 9418080050
E-mail : monushimlamonu@gmail.com

अंधानुकरण से आत्मविकास के बजाए आत्मसंकोच होता है। - अरविंद घोष

जहां सूरज की उपासना कर्तव्य हो, तो यह बिल्कुल निश्चित है कि वहां ताप के नियमों की जांच करना अपराध होगा।
- जानमोर्ली

हल्बा जनजाति की सांस्कृतिक एवं सामाजिक परिस्थितियां

सुरेश कुमार

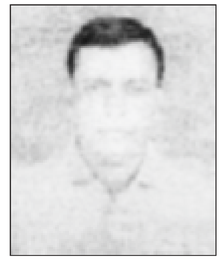

छत्तीसगढ़ की एक तिहाई जनसंख्या अनुसूचित जनजातियों की है। इन्हें प्रायः आदिवासी वनवासी गिरिजन वन्यजाति भूमिजन भी कहते हैं। इतिहासकार इन्हें भारत के प्राचीनतम निवासी मानते हैं। ये लोग दुर्गम वन्यक्षेत्रों में निवासरत होने के कारण विकासपथ पर अग्रसर नहीं हो पाये और देश की मुख्यधारा से हटकर पिछड़ते ही चले गये। भारतीय संविधान में इनके लिए विशेष प्रावधान किए गए हैं। जिनके अंतर्गत शासन द्वारा निरंतर विकास हेतु प्रयासकर जीवनस्तर में सुधार किया जा रहा है।

छत्तीसगढ़ राज्य जनजाति बहुल प्रदेश है। 2011 की जनगणनानुसार राज्य की कुल जनसंख्या 2.55.45,198 है जिसमें कुल अनुसूचित जनजाति की जनसंख्या 78.22.902 है जो राज्य की जनसंख्या का 30.6 प्रतिशत है। छत्तीसगढ़ में कुल 42 जनजातियां पाई जाती हैं। 5 जनजातियों को विशेष रूप से अबूझमाड़िया, कमार, पहाड़ी कोरवा, बिरहोर एवं बैगा को पिछड़ी जनजाति समूह के रूप में पहचान मिली है। सबसे बड़ी जनजाति गोड़ है। इसकी साक्षरता दर 50.11 प्रतिशत है। यहाँ हल्बा जनजाति सर्वाधिक साक्षर और आर्थिक दृष्टि में सम्पन्न है।

हल्बा जनजाति की उत्पत्ति

इस जनजाति के लोगों में किवंदति पाई जाती है कि हल्बा जाति की उत्पत्ति का संबंध महाभारत काल के रुक्मिणी हरण के प्रसंग से है। हरण के समय बलराम ने बल और पराक्रम से शत्रुओं को रोक दिया था, बलराम के पराक्रम से प्रभावित होकर हरण में शामिल सिपाहियों ने उनके शस्त्र हल एवं मूसल को अपना लिया। उन्हीं सिपाहियों की संतानें कालान्तर में ये हल से धान की खेती करके प्राप्त धान को मूसल से 'बहाना' में कूट का 'चिवड़ा' बनाने लगे। हल, बाहना और मूसल से संलग्न कार्यों के कारण ये हल्बा कहलाये।

इतिहासकारों के अनुसार डोंगर क्षेत्र हल्बाओं का स्वतंत्र राज्य हुआ। इस क्षेत्र को अपनी उपराजधानी बनाकर बस्तर के राजा अपने पुत्रों को यहाँ का गवर्नर नियुक्त करने लगे । सन् 1774 ई. में जब दरियादेव बस्तर का राजा बना तो उसने डोंगर क्षेत्र की अवहेलना की और तत्कालीन गवर्नर अजमेर सिंह पर दबाव डालने लगा। इसी वर्ष यहाँ पर भीषण अकाल पड़ा

और दरियादेव ने आक्रमण कर दिया। इस समय डोंगर क्षेत्र की रक्षा के लिए कांकर की सेना तैनात थी। दरियादेव की हार हुई और विद्रोह को मजबूत देख दरियादेव जैपुर भाग गया और अंग्रेजों मराठों एवं जैपुर के राजा के साथ अलग-अलग संधि कर 20000 सैनिकों के साथ फिर हमला किया और जगदलपुर में विद्रोहियों को पराजित करने के बाद डोंगर पर हमला कर अजमेर सिंह को मार डाला। इसके बाद बड़े पैमाने पर हल्बा विद्रोहियों की हत्या की जिसमें से एक नरसंहार को आज भी हल्बा लोग ताड़झोकनी के रूप में याद करते हैं। इसे छत्तीसगढ़ का प्रथम आदिवासी विद्रोह माना जाता है। यह विद्रोह डोंगर क्षेत्र में हल्बा विद्रोह के नाम से 1774-77 ई. में नेतृत्वकर्ता अजमेर सिंह ने उत्तराधिकार हेतु किया। किंतु हार हुई परिणामस्वरूप दरियादेव ने 6 अप्रैल 1778 ई. में कोटपाड़ की संधि पर हस्ताक्षर किया और मराठों के अधीन हो गया। भविष्य में बस्तर क्षेत्र अंग्रेजों के अधीन हो गया।

हल्बा जनजाति छत्तीसगढ़ की एक प्रमुख जनजाति है। प्रदेश में इसकी जनसंख्या वर्ष 1981 की जनगणना के अनुसार 2,25,376 थी जो राज्य की कुल जनजातीय जनसंख्या का 4.86 प्रतिशत थी। हल्बा जनजाति प्रदेश में मुख्यतः कांकेर, बस्तर, दंतेवाड़ा, दुर्ग, धमतरी, राजनांदगांव जिलों में निवासरत है। बस्तर में हल्बा मुख्य रूप से कांकेर जिले के अंतर्गत चारामा नरहरपुर, कांकेर, भानुप्रतापपुर और अन्य गांव नगरों में बसे हैं। इस जनजाति के कुछ स्थानीय उपविभाजन बस्तरिया, छत्तीसगढ़िया तथा मरेथिया आदि हैं। हल्बा जनजाति की कई उपशाखाएं हैं जैसे नायक, भंडारा, परेत, सुरेत, नरेवा आदि। सुरेत हल्बा अधिक प्रगतिशील हैं। यहाँ हल्बा जनजाति का निवास वर्तमान में पहाड़ों व जगलों में नहीं है मैदानों में है।

शारीरिक बनावट

इस जनजाति के लोग सामान्य कदकाठी के होते हैं। इनकी त्वचा का रंग सांवला, नाक चौड़ी व दबी हुई चेहरा चौड़ा होता है। अधिक मेहनती होने के कारण इनका शरीर काफी हृष्ट-पुष्ट दिखता है। इनमें प्रोटोआस्ट्रेलाइड प्रजाति के शारीरिक लक्षण पाये जाते हैं।

आवास-वस्त्र-भोजन

हल्बा जनजाति के घर सामान्यतः कच्चे एवं मिट्टी से निर्मित होते हैं, जिनके ऊपर खपरैल या देशी कवेलु लगी होती है। अपने घरों का निर्माण इनके द्वारा स्वयं किया जाता है। इनके गांव कई पारों में बंटे होते हैं। इनके साथ गोड़, भतरा, मुरिया, माड़िया आदि जनजाति के लोग भी निवास करते हैं। घर की स्वच्छता पर हल्बा जनजाति की महिलायें काफी ध्यान देती हैं। महिलायें अपने हाथ पैरों पर गोदना गुदवाती हैं, जिसमें कई विभिन्न प्रकार की आकृतियां होती हैं। पुरुष धोती, पटका बंडी, सलुका पहनते हैं। नवयुवक कुर्ता, पैजामा, पैंट व शर्ट भी पहनते हैं। महिलायें साड़ी ब्लाउज पहनती हैं। पुरुष सिर पर 'पागा' बांधते हैं। इनका मुख्य भोजन चावल, कोदो, कुटकी की बासी, मौसमी सब्जी, चटनी आदि हैं। मांसाहार में मुर्गा, मछली, बकरा, खरगोश आदि खाते हैं। उत्सव त्यौहार व विभिन्न संस्कारों के अवसरों पर सल्फी, ताड़ी व महुवे की शराब देवी-देवताओं को चढ़ा कर पुरुष व बच्चे सभी पीते हैं।

आर्थिक जीवन

हल्बा जनजाति की आर्थिक संरचना मुख्यतः कृषि व जंगली उपज पर निर्भर है। इस जनजाति की आर्थिक स्थिति अन्य जनजातियों से अच्छी है। अपने खेतों में धान, कोदो, अरहर, उड़द, मूंग, तिल्ली, चना, तिवरा, कुटकी आदि बोते हैं। कृषि व जंगली उपज संग्रह के अतिरिक्त कृषि व मजदूरी चिवड़ा कूटने का कार्य भी करते हैं। वर्तमान में कई नवयुवक युवतियां शिक्षण प्राप्त कर शासकीय नौकरी में आ रहे हैं।

सामाजिक संरचना

हल्बा जनजातियों में मुख्यतः दो भाग पाये जाते

हैं- 1. बस्तरिया हल्बा मुख्यतः बस्तर, कांकेर, अंतागढ़, बड़े डोंगर, भानुप्रतापपुर, नारायणपुर, दंतेवाड़ा, बीजापुर, नगरी, गरियाबंद देवभोग क्षेत्र में निवासरत हैं। 2. छत्तीसगढ़िया हल्बा बालोद, डौण्डी, दल्लीराजहरा, गुण्डरदेही, राजनांदगांव के चैकी, डोंगरगांव के हल्बा छत्तीसगढ़िया हल्बा कहलाते हैं। इनके समाज में क्रमशः पुरैत व सुरैत दो विभाजन पाये जाते हैं। पुरैत उच्च माना जाता है। हल्बा जनजाति कई बहिरविवाही गोत्रों में विभक्त है। प्रत्येक गोत्र का अपना टोटम है। हल्बा जनजाति के गोत्र हैं - नायक, मार्गिया, कोरेटिया, राणा, भैसारा, सहारे, रावटे, कोसमा, भोयर, माहला, कछुवाहा, बढ़ाई, भुआर्य, खड़हा, छेहारी, ढाल, कोठरिया, बारामानिया, चुरगईया, समरथ आदि।

हल्बा जनजाति में भी अन्य जनजातियों की भाँति अलौकिक शक्ति पर विशेष रूप से विश्वास किया जाता है। ग्राम अवस्था, कृषि हानि, पशु हानि, जन हानि में अपशकुनों व जादू-टोना के प्रकोप को मानते हैं। इस कारण देवी-देवताओं की संतुष्टि के लिए समय- समय पर उचित रीतिरिवाजों के द्वारा धार्मिक क्रियाएँ की जाती है। किंतु वर्तमान में नगरीकरण के प्रभाव ने आधुनिक बना दिया है। इनमें शिक्षा का प्रतिशत भी अन्य जनजातियों से अधिक है। कांकेर के हल्बा में कुछ टोटम होते हैं। जो 'बरश' कहलाते हैं तथा प्रत्येक टोटम एक (थोक) के लिए होता है। इस क्षेत्र में अनेक हल्बा कबीरपंथी हैं। इन्होंने मांस-मदिरा छोड़ दी है। दूसरा संप्रदाय सवता है। इनमें दुर्गा पूजा होती है। प्रायः सभी हल्बा कृषि करते हैं। गाँव का पटेल समाज का मुखिया होता है। इसकी गणना सम्पन्न कृषकों में की जाती है। हल्बा शिकार के भी शौकीन हैं। महिलाएँ जंगल में कंदमूल-फल एकत्र करती हैं।

हल्बा जनजातियों में गौत्र व्यवस्था प्रचलित है। एक ही गाँव में विवाह नहीं होता। विवाह की तिथि निश्चित होने के बाद यदि पर घर पर किसी की मृत्यु हो जाये तो विवाह किसी अचार अथवा महुआ के वृक्ष के साथ करते हैं, पवित्रता बनाने हेतु। तलाक प्रथा, वधू मूल्य भी प्रचलित है। अन्य जाति से विवाह करने पर लड़की जाति से हमेशा के लिए बहिष्कृत कर दी जाती है। दशहरा, दीवाली, होली आदि त्योहार मानते हैं। जिदरी एवं नवाखानी भी पूजते हैं। छुआछूत को मानते हैं। मृतक का दाह संस्कार करते हैं बाल मुण्डवाते हैं।

हल्बा जनजाति में जन्म, विवाह तथा मृत्यु संस्कार का विवरण निम्न प्रकार से है-

(अ) जन्म -प्रसव अधिकतर घर पर ही सुइन (दाई) की देख-रेख में कराया जाता है। गांव की बुजुर्ग महिलायें प्रसव के समय सुइन की मदद करती हैं, प्रसव हो जाने पर सुइन द्वारा बच्चे का नाल ब्लेड से काट दिया जाता है। प्रसव के दूसरे दिन तेल-गुर होता है जिसमें तिल को कूटकर गुड़ व जंगली जड़ी-बूटी मिलाई जाती हैं, तत्पश्चात घी में मिलाकर जच्चा तथा तिल-गुर में आई महिलाओं को भी दिया जाता है। बच्चे के नाल गिरने पर छट्ठी मनाई जाती है, उस दिन पूरे घर की सफाई की जाती है, पूरे घर के कपड़े साफ किये जाते हैं तथा उसी दिन परिवार के या अन्य बुजुर्ग रिश्तेदार द्वारा बच्चे का नामकरण भी किया जाता है

(ब) विवाह - हल्बा जनजाति में एक ही गोत्र में विवाह नहीं किया जाता है। इनमें विवाह अधिकतर लड़के-लड़कियों के वयस्क होने पर ही किया जाता है। मामा-बुआ के लड़के-लड़कियों में विवाह होता है। इनमें लड़का का पिता लड़की के पिता के घर जाकर शादी की बात तय करता है, बात पक्की होने पर कुछ रिश्तेदारों के साथ जाकर मंगनी की जाती है। वर पक्ष की ओर से वधू पक्ष को 'सूक' (उपहार आदि) दिया जाता है। विवाह कार्य हल्बा जनजाति के 'भंडारी' द्वारा संपन्न कराया जाता है।

(स) मृत्यु संस्कार - हल्बा जनजाति में मृत्यु पश्चात् शव को दफनाते हैं। आजकल दाह संस्कार

भी किया जाता है। पिता का दाह संस्कार सबसे बड़ा लड़का तथा माता का सबसे छोटा लड़का करने पर अच्छा माना जाता है। छोटे बच्चों के शव को अधिकांश दफनाया जाता है। स्त्री का मृतक का सूतक-शोक निवारण सात दिन तथा पुरुष का नौवें दिन किया जाता है। कहीं-कही पर तीसरे दिन भी इस रस्म को पूरा कर देते हैं। दाह संस्कार के पश्चात् घर के सभी लोग स्नान करते हैं तथा सातवें या नौवें दिन 'बैगा' को बुलाकर घर शुद्ध किया जाता है, गांववासियों व रिश्तेदारों को भोज दिया जाता है।

राजनैतिक संगठन

हल्बा जनजाति में सामाजिक न्याय व्यवस्था हेतु परंपरागत राजनैतिक संगठन पाया जाता है। न्याय व्यवस्था का सही संचालन करने के लिए इसे अठारह गढ़ों में विभाजित किया गया है। जैसे बड़े डोगरगढ़, नारायणपुर गढ़, अंतागढ़, कांकेर गढ़, विन्द्रानवा गढ़, बस्तर गढ़, सोनपुर गढ़, कोलर गढ़ आदि। यहां पर बड़े-बड़े सामाजिक प्रकरण गढ़वार निर्णय किये जाते हैं। इसके अतिरिक्त जाति पंचायत, राज पंचायत या गढ़ पंचायत, गांव पंचायत आदि में छोटे-मोटे सामाजिक झगड़े पर निर्णय लेकर सुलझाया जाता है। इनके निर्णय सभी को मान्य होते हैं।

धार्मिक जीवन

हल्बा जनजाति के लोग देवी-देवताओं में काफी आस्था रखते हैं। सभी हिंदू धर्म को मानते हैं, हिंदू धर्म के सभी देवी देवताओं को मानते हैं इनमें मुख्य देवी-देवता व त्यौहार निम्न हैं - 1. ग्राम देव-ग्राम देव में दूल्हादेव, करियाधुरवा, माता देवला, शीतला माता, कंकालिन माता, शंकर भगवान, हनुमान आदि हैं। 2. कुल देव-हल्बा जनजाति के कुल देव में गुसई, पुसई, कुंवर देव, मौलीमाता आदि हैं। देवपूजा के अलावा पोला होली, नवाखानी, रक्षाबंधन, दिवाली, होली आदि त्यौहार मानते हैं। सामाजिक-धार्मिक आयोजनों में इस जनजाति में कर्मा नृत्य, पड़की, होली नृत्य काफी प्रचलित हैं। लोक गीतों में धनकुल, छेरछेरा, गौरा व सुआ गीत मुख्य हैं।

भाषा एवं बोली

इस जनजाति की अपनी 'हल्बी' बोली है, जिसका प्रयोग ये आपस में करते हैं। अन्य लोगों के साथ में छत्तीसगढ़ी बोली बोलते हैं। कर्नल ग्लसफर्ड तथा स्टेन के अनुसार यह भाषा छत्तीसगढ़ी की ही एक उपबोली है। उच्चारण की दृष्टि से हल्बी की ध्वनियाँ छत्तीसगढ़ी से मिलती जुलती हैं। हल्बी आर्य भाषा परिवार की एक बोली है, यद्यपि इसमें द्रविड़ भाषा परिवार के शब्द बहुतायत से पाए जाते हैं। हल्बा जनजाति से संबद्ध होने के कारण इसे हल्बी, हल्बानी कहा जाता है। हल्बी में स्वर ध्वनियाँ संख्या में बारह हैं। शब्दान्त में ह्रस्व स्वरों का प्रायः अभाव है। सानुनासिक स्वर आरंभ तथा मध्य में पर्याप्त मात्रा में प्रयुक्त होते हैं, अन्त्य में वे बहुत कम प्राप्त होते हैं। शब्द के अन्त में व्यंजन गुच्छ बहुत ही कम मिलते हैं। हल्बी की उपबोलियां निम्नलिखित हैं।

--कुमारी : कमार जनजाति द्वारा बोली जाती है। इसका प्रयोग मुख्यतः रायपुर में होता है।

--भुंजिया : भुजियां जनजाति द्वारा रायपुर में बोली जाती है।

--बस्तरी : बस्तर के उच्च वर्गों द्वारा इसका प्रयोग होता है। जैसे पुराने राजघराने जमीदार संभ्रांत परिवार में बोली जाती है। वर्गगत आचरण से उत्पन्न हुई है। नाहरी, मिरगानी, चंडारी तथा राजमुरिया अन्य उपबोलियां है।

हल्बी भाषा का व्याकरण

हल्बी विकृत छत्तीसगढ़ी, विकृत मराठी, उड़िया, गोड़ी, गदबा का प्राकृतिक मिश्रण है । बस्तर की सम्पर्क भाषा होने के कारण अनेक भाषा और बोलियों में सम्प्रति है। हल्बी में दो ही लिंग स्त्रीलिंग और पुल्लिग तथा दो ही वचन एकवचन और बहुवचन है। मन, झन, ठन प्रत्यय बहुवचन के लिए प्रयोग में आते हैं। लिंग भेद सजीव वस्तुओं में होता है। जबकि निर्जीव वस्तुओं के लिए प्रायः स्त्रीलिंग ही

होता है। हल्बी में पुरुषवाचक, निश्चयवाचक, सम्बन्धवाचक, प्रश्नवाचक, निजवाचक तथा आदरार्थी सर्वनाम का प्रयोग होता है। हल्बी में 'अपना' आदरार्थी सर्वनाम है ।

सहायक ग्रंथ

1. मिश्र, जेपी (2003) जनांकिकी, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स आगरा पृ. सं. 77।

2. एल्विन बेरियर (1991), द अगारिया, वन्य प्रकाशन नई दिल्ली, पृ.सं. 58-59।

3. ग्रिगसन डब्ल्यूवी (1938), द मारिया गोड ऑफ बस्तर, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी पेरस लंदन, पृ. सं. 133-193।

4. जैन एसपी (1975), डेमोग्राफी-ए स्टेटस स्टडी ऑन पापुलेसन रिसर्च इंडिया, टाटा मैकग्राहिल न्यू देहली पृ.सं. 51-137।

5. शर्मा डीडी (1990), सामाजिक मानव शास्त्र, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स आगरा, पृ.सं. 114-119।

6. लाल एस के (1984), सोशियो इकॉनामिक स्टडी ऑफ द ट्रायवल फार्मखुलेटिन ऑफ टी. आर. डी. आई. भोपाल, वो. 12 नं पृ.सं. 22-44।

7. जगदलपुरी लाला, बस्तर इतिहास एवं संस्कृति, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी भोपाल 2007 पृ.सं. 13-67।

(शोध-छात्र, अर्थशास्त्र, बस्तर विश्वविद्यालय जगदलपुर, छ.ग.)

न. पं. -चिखलाकसा, दल्ली राजहारा

जिला-बालोद (छ.ग.)

मो.- 6263948081

E-mail : thawde_12@gmail.com

●

अमंगल की कामना

ऋषि दधिचि के पुत्र का नाम का पिप्लाद था। वे भी अपने पिता की तरह तेजवान और तपस्वी थे। वे अपने पिता के साथ हुए कृत्य के लिए देवताओं को दोषी मानते थे। इन देवताओं को अपने स्वार्थ के लिए पिताजी से उनकी हड्डियां मांगते हुए बिल्कुल भी लज्जा नहीं आयी। अतः उन्होंने देवताओं को नष्ट करने का संकल्प लेकर भगवान भोलेनाथ की तपस्या प्रारंभ कर दी। पिप्लाद की कठोर तप से भगवान ने प्रसन्न होकर उसको वर मांगने के लिए कहा। पिप्लाद ने वर मांगा प्रभु! 'आप अपना तीसरा नेत्र खोलें और इन स्वार्थी देवताओं को भस्म कर दें।' भगवान भोलेनाथ ने पिप्लाद को समझाया- 'पुत्र! मेरे रुद्ररूप का तेज तुम सहन नहीं कर सकते, इसलिए मैं तुम्हारे सम्मुख सौम्य रूप में प्रकट हुआ हूं। तुम्हारे इस कथन से तो संपूर्ण जगत ही नष्ट हो जायेगा। अतः कुछ और वर मांग लो।'

पिप्लाद के मन में देवताओं के प्रति कटुता गहराई से भरी पड़ी थी। उन्होंने कहा- 'प्रभु! मुझे देवताओं द्वारा संचालित इस ब्रह्मांड से तनिक भी मोह नहीं है। आप देवताओं को भस्म कर दें, भले ही उनके साथ अन्य कुछ भी भस्म क्यों न हो जायें।' भगवान भोलेनाथ पिप्लाद के बालहठ पर मंद-मंद मुस्करा रहे थे। उन्होंने कहा- 'पुत्र! मैं तुम्हें विचार करने का एक और अवसर दे रहा हूं। तुम अपने अन्तःकरण में मेरे रुद्ररूप का दर्शन कर लो।' पिप्लाद ने हृदय में भगवन के तेज रूप के दर्शन किए। उस ज्वालामय प्रचंड स्वरूप से उन्हें लगा कि जैसे उनका रोम-रोम ही भस्म हुए जा रहा है। उनसे रहा नहीं गया और फिर से भगवान भोलेनाथ को पुकारा। भगवान मुस्कुराते हुए उनके सामने खड़े थे।

'हे प्रभु! मैंने तो देवताओं को भस्म करने की प्रार्थना की थी, आपने तो मुझे ही भस्म करना प्रारंभ कर दिया।' पिप्लाद ने भयभीत होकर कहा। भगवान ने उसे स्नेहपूर्ण समझाया- 'पुत्र! विनाश किसी एक स्थान से प्रारंभ होकर व्यापक बनता है और सदा वहीं से प्रारंभ होता है, जहां से उसका उद्गम होता है। बेटा! इसे समझो कि दूसरों का अमंगल चाहने पर पहले अपना ही अमंगल होता है। गुस्से में आकर लिया गया हर निर्णय भविष्य में गलत ही साबित होता है।' तुम्हारे पिताजी ने दूसरों के कल्याण के लिए अपना बलिदान तक दे दिया। तुम उनके पुत्र हो, तुम्हें अपने पिता के गौरव के अनुरूप सबके मंगल की कामना करनी चाहिए। भगवान के इन मृदु वचनों से पिप्पलाद का क्रोध शांत हो गया। उन्होंने भगवान के चरणों में अपना मस्तक झुका लिया और अपने कृत्य के लिए भगवान भोलेनाथ से क्षमा मांग ली।

गढ़वाली लोकगीतों की भाव सम्पदा

प्रो. कुसुम डोभाल-डॉ. गुड्डी चमोली

भारत के विभिन्न जनपदों की संस्कृति एक दूसरे से पर्याप्त भिन्न है। धारावाही परम्पराओं का परिणाम संस्कृति है। गढ़वाल के साँस्कृतिक लोकगीत यहाँ की संस्कृति की उपज हैं। "लोक प्रकृति है, समस्त जनता है। प्रकृति कभी अप्रासंगिक नहीं होती। प्रकृति यदि किसी काल में अप्रासांगिक होगी तो लोक भी होगा। यह तय है कि प्रकृति भी अपनी सुकुमारता के साथ कभी-कभी विकट भीषणता के रूप में भी ग्राह्य होती है। प्रकृति की भीषणता और रमणीयता भी लोक के लिए अनिवार्य है। तीव्र झंझावत ही जीवनदाता मेघों को अपनी पीठ पर ढोकर लाता और ले जाता है। लोक जीवन भी सदा सुहाना नहीं होता, उसमें भी सरसता तथा कटुता की गंगा-जमुनी जीवनधारा बहती रहती है।"[1]

पर्वतीय क्षेत्रों में स्त्रियों की सबसे बड़ी कटु पीड़ा है, ससुराल की पीड़ा और कठिन जीवन जिसमें मायके की याद ही एकमात्र सहारा बनती है।

मौली गैन डाली ब्वै, हैरी ह्वैन डांडी;
दाथुड़ी की नौक ब्वै, दाथुड़ी की नौक ब्वै;
कफू बासलो ब्वै, नाज की नाली;
लाल बणी ह्वैली, काफलू की डाली;
सूपा भरी दैण ब्वै, भैजी भेजी लेण!

मेरा मायके में कफू (स्थानीय पक्षी) पक्षी बोलता होगा और अन्न के ढेर लगे होंगे, काफल (स्थानीय जंगली फल) के दानों से पेड़ लाल हो गये होंगे। आग भरभराने का शब्द होने लगा है (लोक विश्वास में यह शब्द तब होता है जब कोई याद करता है) इसलिये भाई को मुझे बुलाने भेजना। गढ़वाली लोक-जीवन की यह भावाभिव्यक्ति यहाँ के पूरे समाजशास्त्र, भूगोल, इतिहास को अपने अन्दर समाहित किये हुए है। साहित्य की दृष्टि से यह लोकगीत काव्य की रसात्मकता से परिपूर्ण गीत है जो गढ़वाल के जनजीवन की चेतना के संस्कारों को उद्वेलित कर उसे पाठकों के समक्ष रख देता है।

डॉ. गोविन्द चातक ने कहा है--"लोक का जीवन दूब की तरह होता है जो कभी मरता नहीं और धूप व पानी में शतग्रन्थि होकर अनेक दिशाओं में फूटता तथा फलता-फूलता है। लोकगीत उसी लोकजीवन के अजस्र स्रोतों की तरह होते हैं, जिनमें लोक की धरती पर

समस्त जीवन का प्रवाह होता है।"[2]

गढ़वाल के लोकगीतों की यदि साहित्यिक व्याख्या की जाय तो हमें यहाँ के सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और सामाजिक तत्वों का दर्शन तो होगा ही साथ ही साथ देवभूमि का भी प्रत्यक्ष दर्शन मिल जाता है -

बीजी जावा बीजी हे, खोली का गणेश;
बीजी जावा बीजी हे, मोरी का नारैण;
बीजी जावा ह्वैगे उदै गिरी कांठ्यो उदंकारो;
बीजी जावा बीजी हे, शंभु भोलेनाथ;
बीजी जावा बीजी, ऐंच का आगास;
बीजी जावा बीजी, नीस को धरती।

अर्थात् हे गणेश भगवान जो कि मेरे दरवाजे की चौखट पर विराजमान हो आप जागृत हो जाइये, पर्वत की चोटियों पर धूप की किरणें चमकने लगी हैं, इसिलए, हे शंभू भोलेनाथ! आप भी जाग जाइये। ऊपर के आकाश और नीचे की धरती आप भी जाग जाइये। इसी प्रकार देवी माता की भी स्तुति की गयी है -

माता का रिंगदा छतर;
जै माता सकल भवानी;
रवि-- बाण डांडा कांठौं चढ़िगे;
देवी सीताये गौ की गलबंध खुलीगे;
पंथी चले पंथन को।

पहाड़ों पर माता के अनेक पवित्र स्थान हैं और समय-समय पर जैसे अष्टमी, शिवरात्री, बसंत पंचमी, नवरात्रि, मकर संक्रान्ति इत्यादि में माता की डोली सज-सजाकर डोलेरों (कहार) के कंधों पर चढ़कर गंगा स्नान को जाती है तो डोली के ऊपर चढ़ाया जाने वाला चाँदी का छत्र ऊँची-नीची पगडंडियों पर चक्रवात सा घूमने लगता है, जो लोक जीवन में देवी के प्रसन्न होने का प्रतीक है। देवी माता को भी प्रातः होने पर उपर्युक्त लोकगीत में सम्बोधित किया गया है।

गढ़वाल प्राकृतिक रूप से हरा-भरा तथा सौन्दर्य सम्पदा से परिपूर्ण है। अतः यहाँ के लोकगीत प्राकृतिक सौन्दर्य के मिले-जुले रूप से भरपूर हैं। प्राकृतिक सौन्दर्य बोध से भरपूर इस धरती के लोकगीतों का भाव सौन्दर्य इतना उल्लासपूर्ण है कि वह हमारी चेतना को झकझोर कर रख देता है। विशेष रूप से **खुदेड़** गीतों में (खुदेड़ वे गीत हैं जो नव-विवाहितायें अपने मायके की याद में गाती हैं), ससुराल की वेदना का चित्रण तथा मायके का प्राकृतिक सौन्दर्य उद्दीपन के रूप में मिलता है। प्रकृति का यह स्पंदन यहाँ के लोकगीतों के रक्त में बसा है--

आई गैन रितु बौड़ी दांई जसो फेरो,
फूली गैन बणू बीच ग्वीराल बुरांश,
झपन्याली डाल्यों मा घूघूती घूरली,
गैरी-गैरी गदन्यों मा म्योलड़ी बासली,
ऊँचा ऊँचा डांडू मा कफू बासलो,
गौं की नौनी स्ये गीत बसंती गॉली,
जौं की नौनी स्ये गीत बसंती गॉली,
जौं की ब्वई होली मैतुड़ा बुलाली,
मेरी जिकुड़ी मा ब्बे बिजुली-सी चौंकी,
कुयेड़ी-सी लौंखी।

अर्थात् गढ़वाल की अभावग्रस्त नवविवाहिता जब प्रकृति को उल्लास भरा देखती है तो यहाँ के फूल बुरांश, पक्षी घुघुती, म्यौंलड़ी और कफू के चहकने का वर्णन करती हुई; यहाँ के झरनों और पहाड़ों के बीच स्वयं को अकेला और उदास महसूस करती है और फिर चाहती है कि, काश उसकी माँ होती तो उसे मायके बुलाती। अतः कफ, हिलाँश, घूघूती, फ्यूँली, बुराँश के फूल उसके लिए संदेशवाहक का कार्य करते हैं। खुदेड़ गीतों की यह भाव सम्पदा किन्हीं-किन्हीं लोकगीतों में तो रुलाकर रख देती है।

डॉ. गोविन्द चातक लिखते हैं- "आजीविका के लिए पतियों के दीर्घकालीन प्रवास के कारण गढ़वाली नारी के लिये तो मानो सावन-भादों की हरियाली का अर्थ ही बदल जाता है। उसके लिए तो बादल उसके हृदय पर उमड़ते हैं और बिजली उसके

हृदय पर कड़कती है- **मेरी जिकुड़ी मा ब्वे बिजुली-सी चौंकी।** फिर सावन-भादों का हरा-भरा सौन्दर्य, भौरों का उल्लास, चरवाहों का उन्माद, वंशी-स्वर, चरती भैंसों की टनटन करती घंटियाँ और नदी का छलकता पानी जैसे सब कुछ ही पीड़ा के रंग में रंग जाता है।"[3]

इन लोकगीतों के अतिरिक्त गढ़वाल में संस्कार गीत भी पाये जाते हैं, जिन्हें **मांगल** कहते हैं। मांगल शब्द का तात्पर्य मंगल से है। इसमें जन्म के गीत, नामकरण, चूड़ाकर्म, जनेऊ, विवाह, कन्यादान के गीत हैं।

दी देवा बाबाजी, कन्या को दान,
दानू मा को दान होलो कन्या को दान।
हीरादान, मोतीदान सब कोई करला,
तुम देला बाबाजी, कन्या को दान।

अर्थात् पिताजी हीरा, मोती का दान तो कोई भी कर सकता है परन्तु कन्यादान सभी दानों में श्रेष्ठ दान है, इसिलए आप कन्या का दान दे दीजिए। **बारहमासा** गीत भी गढ़वाल में लोकप्रिय हैं। विशेष रूप से वर्षा ऋतु में भावाभिव्यक्ति और ध्वन्याभिव्यक्ति विशेष रूप से मिलती है।

सौंण का मैना रूणझुण्यां पाणी,
कु रांड जांदी बिन स्वामी धाणी।
भादों का मैना रौला काट्या बौला,
ऐ जावा स्वामी मौज मा रौला।

बारहमासी गीतों में कृषक के जीवन का श्रम और ऋतु की विशेषता प्रतिबिम्बित होती है। इसके पश्चात बाजूबंद लोकगीत आते हैं। जिनमें प्रेम और सौन्दर्य की अभिव्यक्ति का अनूठा संयोग होता है--

रेशमी रूमैल,
माया को भूको छऊं, जंगलू की सैल।
आग की अंगेठी,
तेरी मायान सुवा, मेरी जिकुड़ी लपेटी।
स्यूंदी लायो फोंदा,
विदेशी भंवर सुवा, अपणा नी होंदा।
सेरा डाली कूल,
रस-रस चूसी लेंदा, छोड़ी देंदा फूल।

जितना गहरा प्रेम होगा उतना ही गहरा संशय होगा, जो इन प्रणय गीतों में मिलता है। रूप आभूषण इन गीतों के उद्दीपन विभाव है। बाजूबंद गीत प्रेम के व्यापक अनुभवों और मानव गतिविधियों पर आधारित होते हैं। इनमें अनुभूत तथ्य, सत्य और यथार्थ ही प्रेम की पृष्ठभूमि बनकर उभरे हैं। इसलिए इन गीतों में रसात्मकता और आनन्द स्वतः ही भर उठे हैं। गढ़वाल के लोकगीतों में शृंगार की अनुभूति देने वाले रस भरे **प्रणय गीत** सर्वाधिक प्रचलित हैं, जिनमें से छोपती और लामण, विशेष रूप से रंवाई और जौनपुर के आदिवासी हिस्से में प्रचलित हैं। **छोपती** में स्त्री-पुरुष मिलकर गोल घेरे में नृत्य करते हैं। नृत्य की गति लोकगीत की लय के अनुरूप पैरों को गति देकर दो कदम आगे और एक कदम पीछे लाकर मिलाई जाती है।

पोसतू का छुआ, मेरी भग्यानी बौ,
आज की छोपती, मेरी भग्यानी बौ।
रै तुम्हारा जुमा, मेरी भग्यानी बौ,
घूघूती को घोल, मेरी भग्यानी बौ।
रूबसी घिचीन, मेरी भग्यानी बौ,
तू रौनक खौल, मेरी भग्यानी बौ।

अर्थात् हे मेरी भाग्यवती भाभी आज का यह छोपती नृत्य तुम्हारे जिम्मे है। अपने मीठे होंठों से इस अवसर की रौनक बढ़ा दो। इस प्रकार के अनुनय-विनय का मीठा परिहास पूरे छोपती का प्राण बन जाता है। जिसमें एक-दूसरे को चिढ़ाना और उलाहना एवं व्यंग्य रसात्मकता को बढ़ाता है। इसके अतिरिक्त **लामण** गीत छोपती से अलग होते हैं। ये गीत संयत और गम्भीर होते हैं। इसमें हिमाचल और जौनसार-बाबर के शब्द घुलमिल से गये हैं, जो त्योहारों के अवसर पर इस हिस्से में गाये जाते हैं। लामण गीतों में प्रेम का उज्ज्वल पक्ष रसानुभूति देता है-

बाजलो बाजीणा बाजला भाणा,
तेरी ताइ एं जनु मु मरी जाणा।
जब देखु जैनु लेसरू आंखी,
एश बुश बौंर जैश दूद दी माखी।
आगू चल राम पाछ चल लक्षमन जती,
लोकड़ी अरेड़ा बावड़ा एबी नी आउंदी मी।

अर्थात् जब-जब तेरी सुन्दर आँखें देखता हूँ तो मेरा मनरूपी भौंरा उन पर ऐसे बैठ जाता है जैसे दूध पर मक्खी, आगे-आगे राम चले पीछे-पीछे लक्ष्मण जती, मेरा हृदय बचपन से ही बावला रहा है, अभी भी मति नहीं आयी। "इन गीतों में प्रेमियों के पारस्परिक सम्बन्धों को अनेक प्रकार से रसात्मक उक्तियों के द्वारा बाँध दिया गया है। भोग और योग के लिए जीवन में एक ऐसी विधि को प्रच्छन्न रूप से सामने रखा गया जिससे चरित्र की चादर दुनिया के सामने साफ-सुथरी रखी जा सके।"[4] यहाँ तक कि दो प्रेमियों में आराध्य और आराधक का सम्बन्ध बन जाता है--

देवी को तखत, तू मेरी जोगीण सुवा मैं तेरो भगत।

अर्थात् हे प्रेयसी तू मेरी जोगन है और मैं तेरा भक्त हूँ। गढ़वाली लोकगीतों में स्वतन्त्रता के बाद देश के प्रति जागरूकता और राष्ट्रीय एकता की भाावना बढ़ी है। इस प्रकार के भी अनेक लोकगीत देखने को मिले हैं --

चला भायों, देखी औला गाँधी की पलटन दा;
पकी त खीर दा, अगनै गांधी सूबेदार,
पिछलै जवाहीर दा;
बाजी जाला बाजा दा,
मोतीलाल कु बीर जवारी भारत का राजा दा।

इस गीत में रष्ट्रीय प्रेम की भावना प्रकट हुई है। "आज भी यदि हमें मिट्टी से जुड़े रहना है, अपनी परम्परा को धारावाही रखना है, उसे नष्ट नहीं होने देना है तो लोक साहित्य और लोककला से हमें जुड़े रहना होगा। उससे विलग होना अर्थात् अपनी समूची परम्परा से, संस्कृति से संबंध टूट जाना है। परम्परा मानव-जीवन का रस स्रोत है। रस स्रोत के बिना जीवन सूख जाता है, परम्परा के बिना मानव जीवन निराधार हो जाता है, रीत जाता है।"[5]

सन्दर्भ

1. बी.एल. पुरोहित, लोकभाषा और साहित्य, पृ. 35।
2. गढ़वाली लोकगीत एक सांस्कृतिक अध्ययन, गोविन्द चातक, भूमिका।
3. गढ़वाली लोकगीत एक सांस्कृतिक अध्ययन, गोविन्द चातक, पृ.-142।
4. गढ़वाली लोकगीत, गोविन्द चातक, पृ.-232।
5. बी.एल. पुरोहित, लोकभाषा और साहित्य, पृ.-35।

सी.-36, प्रोफेसर कालोनी,
गढवाल वि.वि. परिसर,
बादशाहीथौल, टिहरी गढ़वाल

आगे बढ़ो !

स्वामी विवेकानन्दजी का एक प्रेरक संस्मरण है - एक बार मैं हिमालय की पैदल यात्रा कर रहा था। सामने लंबी सड़क फैली थी। हमारे साथ एक वृद्ध साधु थे। रास्ता सैकड़ों मील का है, उतार-चढ़ाव से भरा है, यह देख कर उसने कहा– 'ओह महाशय! इसे कैसे पार करूँगा। मैं अब जरा भी नहीं चढ़ सकता।'

मैंने उससे कहा– 'नीचे अपने पांवों को तो देखिए, आपके पैरों के नीचे जो सड़क है, उसे आप पार कर चुके हैं। आपके सामने जो सड़क दिखाई दे रही है, वह भी वही है, वह शीघ्र ही आपके पांवों के नीचे आ जाएगी।'

'उच्चतम वस्तु तुम्हारे पांवों के तले है, क्योंकि तुम दिव्य नक्षत्र हो। यदि तुम चाहो तो मुट्ठियों में नक्षत्र भींच सकते हो। ऐसा है तुम्हारा वास्तविक स्वरूप। बलवान बनो, सब अंधविश्वासों से ऊपर उठो और मुक्त बनो।'

शिव स्तुति का 'रुद्र मंत्र'

भगवान शिव की स्तुति का यह मंत्र वैदिक मंत्र है। भगवान शिव को लोक कल्याण का देवता माना गया है। पौराणिक कथाएँ वर्णन करती हैं कि देवताओं तथा असुरों द्वारा जब समुद्र मंथन किया गया तो सबसे पहले समुद्र से हलाहल विष प्रकट हुआ। विष के प्रभाव को जब देवता और असुर दोनों ही सहन नहीं कर सके तो भगवान शिव ने उस हलाहल विष का पान कर, उसे अपने कंठ में धारण कर लिया। विष के कारण उनका कंठ नीला पड़ गय। अतः उन्हें नीलकंठ कहा गया। यह नीलकंठ नाम भगवान शिव का विशेषण है। पुराण कथाएँ वर्णन करती हैं कि 'आर्त प्राणियों' के दुःख का निवारण करने हेतु भगवान सदैव तत्पर बने रहते हैं। वे अपने वाहन नंदी बैल पर देवी पार्वती के साथ सवार होकर निरन्तर लोकमंगल के लिए यात्रा करते रहते हैं। वे किसी भी प्रकार का कोई भेद किसी भी प्राणी के साथ कभी अपनाते नहीं। वे अपने इस कार्य में किंचित् मात्र देरी करते नहीं। अतः भगवान शिव को आशुतोष (शीघ्र संतुष्ट होने वाले) कहा गया है। इस गुण के कारण देवगण तथा असुरगण दोनों ही भगवान शिव की निरन्तर आराधना-उपासना, स्तुति कर उनकी प्रसन्नता प्राप्त कर लेना चाहते हैं।

सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में भगवान शिव की ख्याति 'रुद्र' रूप में व्याप्त है। 'यज्ञ संहिता' यजुर्वेद में भगवान शिव को 'रुद्र' ही कहा गया है। यजुर्वेद के कुल आठ अध्याय भगवान शिव के रुद्ररूप को अपना कर की जाने वाली स्तुति से सम्बन्ध रखते हैं। अतः यजुर्वेद के इन आठ अध्यायों को 'रुद्राष्टाधायी' कहा जाता है। भक्तगण इनका नियमित पाठ-स्तवन करते हैं। रुद्राष्टाधायी के विस्तृत पाठ के स्थान पर अनेक भक्तगण रुद्राष्टाधायी में आये प्रार्थना मंत्र-- **'ॐ त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्। उर्वारुकमिव बन्धनान् मृत्योर्मुक्षीय मामृतात।।'** का उपयोग कर, इसे कष्ट निवारण का कारगर उपाय मानते हैं। इस वैदिक मंत्र को 'रुद्र मंत्र' भी कहा गया है। लोक-जीवन में विद्या, बल, शौर्य आदि प्राप्त करने हेतु जितना महत्व 'गायत्री मंत्र' को प्राप्त है; उतना ही महत्व कष्ट, भय और अकाल मृत्यु आदि के निवारण हेतु इस 'रुद्र मंत्र' को प्राप्त है। इस प्रकार ये दोनों ही वैदिक मंत्र जन-जीवन से जुड़े हुए हैं। ये परस्पर मिलकर उभयरूप में आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

वेदवाणी को परमात्मा की वाणी माना गया है। वेदवाणी को त्रिकालातीत माना गया है। इसे भूतकाल, भविष्यकाल और वर्तमान काल के बन्धन से परे सर्वकाल में उपयोगी और

प्रभावशाली होना जाना गया है। अतः वेदमंत्र को किसी एक अर्थ से बांधा नहीं जा सकता। सभी वेदमंत्र समय की मांग (आवश्यकता) के अनुसार अपना अर्थ धारण करने और मार्गबोध प्रदान करने वाले जाने जाते हैं। ये सदैव लोकोपयोगी बनें रहते है।

उक्त वैदिक रुद्र-मंत्र अपने प्रथम आधे भाग में स्तवन से सम्बन्ध रखता है तथा दूसरा आधा भाग मनोकामना को प्रकट करने वाला हो गया है। जिस प्रकार कोई कर्म और उसका परिणाम (फल) दोनों परस्पर मिलकर इकाई रूप में कर्म की पूर्णता को प्रकट करते हैं तथा परिणाम प्राप्त नहीं होने पर उस कार्य को अधूरा ही माना जाता है। उसी प्रकार यह मंत्र उपासना कार्य की पूर्णता को उभयरूप में धारण करता है और यह निश्चित परिणाम देने वाला जाना जाता है। इस सम्बन्ध में यह लोकमान्यता है कि उपासना हेतु अपना लिये जाने पर यह मंत्र आयु की पूर्णता को प्राप्त करने हेतु मृत्युकारी कष्ट, रोग, बाधा, पीड़ा आदि का निवारण करता है। इस सम्बन्ध में यह भी मान्यता है कि यदि कोई जातक मृत्युशय्या पर असहनीय पीड़ा-कष्ट आदि भोग रहा है, तो यह मंत्र भावपरिवर्तन करता हुआ सुखकारी मृत्यु का अवसर उपस्थित कर देता है। इस मंत्र में यह प्रार्थना की गयी है कि-- जिस प्रकार 'ककड़ी' (फल) अपनी जीवनयात्रा (विकासयात्रा) को पूर्ण करती हुई सुगन्धित और पुष्टिकारक अवस्था को प्राप्त कर स्वतः लता-बन्धन से मुक्त हो जाती है और इस हेतु उसे कोई प्रयास करना पड़ता नहीं; उसी प्रकार हे परमेश्वर रुद्र मृत्यु के कष्ट से मुक्त कर देवें।

ॐ = ओंकार ध्वनि अक्षर परमात्मा का नाम है। इसे प्रणव नाद कहा गया है। उपनिषद्वाणी में इस प्रणव नाद को मृत्युलोक से उस पार ले जाने वाला अर्थात् अमरता के लोक को प्राप्त करने का सेतु कहा गया है। इसे ईश्वर तत्व को प्राप्त करने का परम आलम्बन (सर्वश्रेष्ठ सहारा) कहा गया है। अतः मनीषी विद्वान पुरुष अपना समस्त कार्य, स्तवन, पूजन, आराधना आदि इस ओंकार नाद 'ॐ' के उच्चारण के साथ आरम्भ करते हैं। वे इसे शुभंकर (= शुभ परिणाम देने वाला) जानते हैं।

त्र्यम्बकम् = यह त्र्यम्बकम् शब्द तीसरे नेत्र को सूचित करने वाला जाना जाता है। यह तीसरा नेत्र सदैव ही 'दिव्य ज्ञान' की प्राप्ति से सम्बन्ध रखता है। भगवान शिव को 'त्र्यम्बक' अर्थात् तीन नेत्रों को धारण करने वाला कहा गया है। यह तीसरा नेत्र संहारक शक्ति का सूचक जाना जाता है। इस त्र्यम्बकम् शब्द में आया 'अम्ब' शब्द मातृशक्ति को भी सूचित करता है। देवी पार्वती भगवान शिव की अर्द्धांगिनी हैं। वे अपनी तीनों ही प्रकार की क्रियाशक्ति को धारण कर (सरस्वती, महाकाली और महालक्ष्मी स्वरूप को अपनाकर) सदैव भगवान शिव का सान्निध्य अपनाती हैं। वे भगवान शिव के साथ सदैव नंदी बैल (वाहन) पर सवार होकर उनके साथ यात्रा करती हैं। जन-जन के कष्ट निवारण में सहायक होती हैं; अतः भगवान शिव को 'त्र्यम्बकम्' कहा गया है। भगवान शिव का यह 'त्र्यम्बकम्' स्वरूप ही उन्हें अर्धनारीश्वर कहे जाने का आधार होना प्रकट होता है।

यजामहे = हम लोग पूजन-यजन करते हैं, आराधना स्तुति करते हैं। 'यजन' शब्द 'यज्ञ' शब्द की व्युत्पत्ति का आधार है। 'यज्ञ' शब्द निःस्वार्थ भाव से किये जाने वाले कर्म को प्रकट करता है। अतः 'यजामहे' शब्द का अर्थ होता है कि हम लोग 'यज्ञ' रूप में कर्म को अपनाकर इस सृष्टि के आदिदेव भगवान शिव या रुद्र की आराधना करते हैं। हम अपना सम्पूर्ण कर्म लोककल्याण को अपनाकर, स्वार्थरहित अवस्था में करते हुए परमेश्वर के प्रति समर्पित करते हैं। हम इस सृष्टियज्ञ को अपनाकर आदिदेव भगवान शिव की आराधना करते हैं।

सुगन्धिम् = हमारा समस्त कार्य सुगन्धी को धारण करने वाला हो जावे। कर्म की दो अवस्थाएं होती हैं - सद्भावना से किया गया कर्म तथा दुर्भावना से किया गया कर्म। सद्भावना से किया गया कर्म 'सद्कर्म' कहा जाता है। यह इस लोक में कीर्ति प्रदान

करता है। ऐसे कर्म की सुगंध-सुवास दूर-दूर तक जाती है। दुर्भावना से किया गया कर्म दुष्कर्म की श्रेणी में आता है, यह अपकीर्ति (दुर्गंध)का कारण हो जाता है। हम लोग पवित्रभाव से कर्म को अपनाते हैं। हमारे कर्म हमें सुगन्धि अर्थात कीर्ति प्रदान करें।

पुष्टिवर्धनम् = हम लोग कर्म की संवर्धनकारी, पुष्टिकारक और सामंजस्यपूर्ण अवस्था को अपनाते हैं। हम एक-दूसरे की पुष्टि-समृद्धि को, परस्पर अविरोध को अपनाते हैं। जिस प्रकार तपता हुआ सूर्य और बरसता हुआ जल सबको पुष्ट करता है; वृद्धि का कारण होता है; उसी प्रकार हम लोग परस्पर पुष्टि और वृद्धि (बढ़ोत्तरी) को अपनाते हैं। हमारे कर्म पुष्टि और वृद्धि को धारण करें।

उर्वारुकम् = हे परमेश्वर ! जिस प्रकार 'ककड़ी' फल अपनी विकासयात्रा को पूर्ण करती हुई, सुगन्ध और पुष्ट अवस्था को धारण करती हुई स्वतः लता के बन्धन से मुक्त हो जाती है और इस हेतु उसे कोई प्रयास नहीं करना पड़ता।

इव = इसी तरह आप

बन्धनात् = संसार रूपी जन्म-कर्म के बन्धनों से

मृत्योर्मुक्षीय = हम मृत्यु के मुख की ओर अग्रसर मरणधर्मा मनुष्यों को;

मामृतात् = नहीं वंचित करें, अमृतत्व को प्राप्त करने से अर्थात् हमें भी आप पकी हुई सुवासित ककड़ी (फल) की भाँति ही जन्म-कर्म के बन्धन से सहज रूप से सुखपूर्वक मुक्त करें, हम यह प्रार्थना करते हैं।

इस प्रकार सार रूप में यह मंत्र संदेश देता है कि- "हम लोग त्रिनेत्रधारी दिव्यता से सम्पन्न रुद्रदेव की उपासना यज्ञरूप समृद्धि और पुष्टिकारक कर्मों से करते हैं, जिस प्रकार ककड़ी अपनी जीवनयात्रा पूर्ण करके सुवास, पुष्टिकारक अवस्था को अपनाकर (धारणकर) स्वतः लता के बन्धन से मुक्त हो जाती है; उसी प्रकार परमेश्वर हमें कर्म की सुवास, कीर्ति, वृद्धि, समृद्धि आदि प्रदान कर जन्म-कर्म के बन्धन से मुक्त करें।" ।। ॐ ।।

गिरीश चौबे
ए-37 क्षपणक मार्ग, दशहरा मैदान
उज्जैन-456010 (म. प्र.), मो.- 9425074072

धर्म एवं कला का उद्भव एवं अंर्तसम्बन्ध

संसार में मूर्ति का प्रतीक जितना शक्तिशाली रहा है, उतना अन्य कोई प्रतीक नहीं। प्रकृति एवं मृत्यु के भय और कौतूहल से भगवान और धर्म का उदय हुआ। एक ओर जहाँ तक दृष्टि जाए वहाँ तक विस्तृत नील गगन, अथाह सागर, दुर्गम वन और उत्तंग पर्वत-श्रेणियों ने मनुष्य को अपनी लघुता से परिचित कराया, वहीं दूसरी ओर चिलचिलाती धूप, घटाटोप वर्षा, बादल, सब कुछ बहा ले जाने वाली बाढ़ तथा पल भर में सृष्टि -संहार कर देने वाले भूकंप और आँधी-तूफान ने मनुष्य को निरीह बना दिया। प्रकृति की इस विविध पक्षी अदम्य शक्ति से त्राण पाने के लिए मनुष्य ने उसके समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया। भय से भगवान की परिकल्पना संभव हुयी और उस भगवान को अपने अनुकूल बनाने के लिए नाना प्रकार की पूजा-प्रार्थना प्रारंभ हुयी। यहीं पर भक्ति का उद्भव हुआ। जीवन को दुखों-कष्टों से छुटकारा दिलाकर सुखी बनाने के लिए मनुष्य ने जिस अगोचर भगवान की शरण ली, वह मनुष्य की आवश्यकतानुसार धीरे-धीरे नाना रूप धारण करता चला गया और एक विशाल देवमंडल के रूप में विकसित होता गया।

आगे चलकर मनुष्य में अपने भगवान के प्रति श्रद्धा और भक्ति के भाव स्थाई होते गये और उसने उस अगोचर भगवान को साकार बनाया, इससे मूर्ति का उद्भव हुआ। सृजन, पालन और संहार के प्रतीक ब्रह्मा, विष्णु और शिव उसी भगवान या ब्रह्म के अवतार माने गये। परन्तु सृष्टि का मूल कारण माँ अथवा देवी माँ शक्ति के रूप में कल्पित होकर सर्वप्रथम मूर्तिमन्त हुई। धीरे-धीरे जग के सिरजनहार

इन देव-शक्तियों के नाना रूप मनुष्य ने सिरजे, उनका मनोहारी शृंगार किया और उनकी पूजा-अर्चना की। इस पूरी प्रक्रिया में धर्म और कला समाहित होती गयी।

देश-विदेश के कला एवं इतिहास के विभिन्न विद्वान ऐसा मानते हैं कि राष्ट्रीय जीवन के ही समान भारतीय कला का स्वरूप भी मुख्यत: धर्म-प्रधान है। सी.इ. एम. जोड का मत है कि भारतीय कला ने अपने ससीम अस्तित्व से असीम का बोध कराने का प्रयास किया है। कुमार स्वामी तो धर्म और कला को एक ही अनुभूति के दो नाम मानते हैं-- **टू नेम्स ऑफ वन एक्सपीरियन्स।**

धर्म का जो सैद्धान्तिक स्वरूप है उसका सम्बन्ध आध्यात्मिकता से है। वह जीवन को पारलौकिक जीवन की ओर ले जाता है। वे विचार अथवा भावनाएँ मूलत: धार्मिक और अध्यात्मिक हैं जिनका प्रकाशन भारतीय कलाकार अपनी मूर्तिकला अथवा चित्रकला के माध्यम से करता है।

कालांतर में इन देव-मूर्तियों के निर्माण के लिए शास्त्र रचे गये। मूर्तियाँ बनायी भक्तों ने और उनके निर्माण के नियम बनाये विद्वान कला-पण्डितों ने। हमारे संग्रहालयों में संरक्षित-प्रदर्शित देवी-देवताओं की हजारों कालजयी मूर्तियाँ उनके उद्‌भव और विकास की इसी कहानी को शिल्पशास्त्र के सुकर लक्षणों के माध्यम से अभिव्यक्त करती हैं और अपनी पृथक-पृथक पहचान दर्शाती है।

डॉ. ए.एल. श्रीवास्तव
1-बी, स्ट्रीट 24, सेक्टर 9, भिलाई-490009
छ. ग., मो.- 9827847377

जातीय पहचान और धर्मान्तरण

हम इस बात को भूले जा रहे हैं कि भारत और पाक (बांग्लादेश सहित) की जातीय पहचान एक है। धर्म या सम्प्रदाय या पूजा-उपासना की पद्धति लोगों की पहचान को नहीं बदल सकती। धर्मान्तरण के बाद लोगों की जातीय पहचान नहीं बदली। तुर्की या ईरान से कम ही मुसलमान भारत आये। ज्यादातर भारतीय उपमहाद्वीप के मुसलमान यहीं के समुदायों से धर्म परिवर्तित लोग हैं। कालान्तर में भी उनके तौर-तरीके, भाषा, वेशभूषा, रीति-रिवाज यहाँ तक कि कुल या ग्राम देवता की अवधारणा तक नहीं बदली। उनकी जातीय पहचान के ये लक्षण प्राय: वैसे ही रहे जैसे धर्मान्तरण से पूर्व उन समुदायों के थे जहाँ से वे आये थे। इण्डोनेशिया में शिया मुसलमान अभी भी '**रत्नादेवी**' या '**सुकर्ण**' नाम रखते हैं। उनकी वायुसेवा का नाम **गरुड़** है। अभी भी वहाँ राम लीला अपने रंग से खेली जाती है। इसे हिन्दू धर्म का प्रभाव नहीं मानना चाहिये। यह उनकी जातीय पहचान के लक्षण हैं।

भारतीय उपमहाद्वीप के मुसलमानों ने इसी धरती को अपना निवास माना। वे कोई बाहरी आक्रमणकारी या लूटमार करने वाले न थे। इतिहास से लोग इस तथ्य के विपरीत भी कुछ उदाहरण ढूंढ़ सकते हैं परंतु वे उदाहरण महासमुद्र में बूँद के समान होंगे। यद्यपि सन् 1947 में देश का विभाजन सम्प्रदाय के आधार पर हुआ, परन्तु इस महाद्वीप में साम्प्रदायिक (धर्मप्रधान) समुदायों के बजाय भाषायी समुदाय ही प्रधान रहे हैं। इन भाषिक समुदायों की अपनी अलग-अलग पहचान थी। अब यदि धर्म ही एक सूत्र में बाँधने वाला एक मात्र तत्व होता तो बंगलाभाषी पूर्वी पाकिस्तान मूल पाकिस्तान से अलग क्यों होता? वास्तव में पूर्वी पाकिस्तान के अलग होने का कारण शेष पाकिस्तान से उनकी जातीय पहचान के लक्षणों का अलग होना था। यदि इस्लाम धर्म ही पाकिस्तान को एक सूत्र में बाँधने का कारण माना जाता है तो हिन्दी। उर्दू बोलने वाले उत्तर भारत के मुसलमानों को वहाँ '**मुहाजिर**' (शरणार्थी) क्यों कहा जाता है? या फिर, बांग्लादेश में बिहारी मुसलमानों की ग्राह्यता क्यों नहीं है जो आज भी, न पाकिस्तान को स्वीकार्य हैं, न बांग्लादेश को और वे स्टेटलैस का दर्जा पाये हुए हैं।

सन् 1901 से 1903 तक की भारतीय जन गणना में हिन्दुओं और मुसलमानों की परस्पर समान सामाजिक प्रवृतियों के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये

गये हैं। देश के बहुत से स्थानों पर हिन्दूओं और मुसलमानों के मिश्रित नामों का प्रचलन था जैसे **सीमा रिजवी, मुल्तान सिंह** आदि। बंगाल की सन् 1913 की जनगणना रिपोर्ट में कहा गया है कि जैसोर और बंगाल के अन्य भागों के मुसलमान तुलसी के पौधे और बेल के पेड़ को श्रद्धाभाव से देखते हैं और **'जमाई षष्ठी'** और **'भ्रातृ द्वितिया'** मनाते हैं। इसी प्रकार हिन्दू भी पीरों की मज़ार में माथा टेकने जाते हैं। नवजात शिशु को पीरों की मज़ार पर लाया जाता है और उनकी खुशहाली के लिए मन्नत माँगी जाती है। गाय जब ब्याती है तो उसके बाद पहला दूध मजारों पर चढ़ाया जाता है। ऐसे ही, हिन्दू **'तजियों'** पर लाई व गुड़ चढ़ाते हैं और **'प्रसाद'** रूप उसमें से कुछ लाई व गुड़ अपने बीमार आश्रितों को देते हैं। ऐसे अवसरों पर अनेक हिन्दू महिलाएँ हरी साड़ी पहनती हैं। बंगाल के अनेक स्थानों पर नवविवाहित वधू को ससुराल में लाने से पूर्व पीरों की मज़ार पर मथ्था टेकने के लिए ले जाया जाता है। इसी प्रकार मुसलमानों में ऐसी प्रथा है कि वे अपनी माँ या पिता के निधन पर सिर व दाढ़ी मुड़वाते हैं और हिन्दुओं की भाँति **'अशोच'** की अवधि का पालन करते हैं। मुसलिम महिलाओं में सिन्दुर लगाने, लोंग व बिछुआ पहनने की प्रथा मिलती है। गोपीनाथपुर में वे गोपीनाथ के दर्शन करने व दूध व फल चढ़ाने जाते हैं ताकि उनकी बीमारियाँ दूर हो सकें और उनका कल्याण हो।

बिहार की सन् 1911 से 1931 तक की जनगणना में दर्शाया गया है कि पूर्णिया जिले में मुसलमान ग्राम देवता को श्रद्धा भाव से देखते हैं और अनेक हिन्दू देवी-देवताओं पर आस्था रखते हैं। हर मुसलमान के घर में एक कोना **'खुदाई घर'** कहलाता है और वहाँ वे अल्लाह और **'कालि'** दोनों को याद करते हैं। यहाँ मुसलमानों में यह भी देखने को मिला कि साँप के काटने पर ये ओझा को बुलाते हैं और जो अपने मंत्रों से हिन्दू देवी-देवताओं का आह्वाहन करके साँप के जहर को शान्त करता है। बिहार और बंगाल में संक्रामक रोग फैलने पर हिन्दुओं के समान ही मुसलमान भी शीलता देवी का स्मरण करते हैं। बंगाल के हिन्दुओं के बारे में इस जनगणना में एक स्थान पर उल्लेख है कि जिन हिन्दुओं ने **'पंचपीर'** पंथ को अपना लिया है वे उसी जानवर का माँस खाते हैं जिसे मुसलमान कसाई ने मारा हो। ये सब 1901 से 1931 तक की जनगणना से प्राप्त विवरण है। आज दोनों पक्षों में मुस्लिम कट्टरता के कारण स्थिति बदल गई हो सकती है।

अंग्रेजों की कूट नीति ने इस महाद्वीप में हिन्दू-मुसलिम विग्रह को बढ़ावा दिया। एक उदाहरण पर्याप्त होगा। ब्रिटिश इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी के गोपनीय इन्टेलिजेन्स रिपोर्ट में एक जगह उल्लेख है कि इग्लैण्ड की महारानी विक्टोरिया भारत के वायसराय को सन् 1880-94 के बीच हुए भारत में गोबध विरोध के आन्दोलन के सन्दर्भ में लिखती हैं कि "वास्तव में यह मुसलमानों के खिलाफ न होकर स्वयं अंग्रेजों के खिलाफ है क्योंकि ये (यूरोपीय) ही गोमाँस खाते हैं।" इस गोवध विरोधी आन्दोलन में हिन्दू, मुसलमान, सिख, पारसी सभी ने बढ़चढ़ कर भाग लिया था। यह भी रिकार्ड में है कि जगह-जगह स्थापित गोरक्षिणी सभाओं में तब (सन् 1880-94 के बीच) अनेक सभाओं के प्रचारक मुसलमान थे।

आज अंग्रेज इस देश के शासक नहीं हैं। परंतु उस आयातित सोच का दुष्यपरिणाम हम आज भी भुगत रहे हैं। जो विवाद अंग्रेजों ने हिन्दू-मुसलमान के बीच की दरार बढ़ा कर तब किया था, यूरोपीय व अमेरिकी सभ्यता वाले **'सैकुलरवाद'** के नाम पर और शुद्धता (?) वादी धर्म परायण (?) सम्प्रदाय के नाम पर दोनों को बाँटने में लगे हैं। इसमें क्षुद्र राजनीतिज्ञ अपनी भूमिका वोट बैंक के लिए अलग से निभा रहे हैं।

डॉ. राम मनोहर लोहिया ने सन् 1969 में कहा था कि यदि हिन्दुस्तान और पाकिस्तान को जोड़ने का सिलसिला शुरू हो जाये तो दोनों के सह अस्तित्व से किसी महासंघ की स्थापना हो सकेगी। सीमान्त गाधी खान अब्दूल गफ्फार खाँ बर्मा, सिलोन, अफगानिस्तान सहित पूरे महाद्वीप को एक सूत्र में

पिरोने की जो बात करते थे उस भावना को आज फिर उजागर करने की जरूरत है।

डॉ. लक्ष्मी नारायण मित्तल
एच-899, ओल्ड हाउसिंग बोर्ड कालोनी,
मुरैना- 476001

शाहजहाँ की कैद का कारण ताजमहल ?

यदि कहा जाये कि शाहजहाँ के अन्तिम दिन कैद में व्यतीत होने का एक बड़ा कारण उस की पत्नी मुमताज का मकबरा (ताजमहल) है तो सुनने वाला चौंक पड़ेगा और बात उसे असंगत लगेगी परन्तु यदि इतिहास की बिखरी कड़ियों को ठीक से जोड़ा जाये तो तो कुछ ऐसा ही लगता है।

शाहजहाँ का अपने बड़े बेटे दारा शिकोह के प्रति अत्यधिक स्नेह था। उसने दारा के पक्ष में अपनी वसीयत तक लेखनीबद्ध करवा दी थी।1 दारा में धार्मिक कट्टरता बिल्कुल नहीं थी। उसने उपनिषद् आदि कई हिन्दू धर्म से सम्बन्धित ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद भी किया था। उसकी अगूंठी में 'प्रभु' उकेरा हुआ था। इन्हीं कारणों से कट्टर-पंथी मुसलमान उससे खुश नहीं थे। औरंगजेब तो अपने इस बड़े भाई को 'काफिर' (विधर्मी) की संज्ञा देता था। औरंगजेब धार्मिक मामलों में बेहद कठोर था। वह पाँच वक्त का नमाजी था। बलख के मैदान में उसने घनघोर युद्ध के मध्य घोड़े से उतरकर नमाज पढ़ी थी।

सितम्बर 1657 में जब शाहजहाँ बीमार पड़ा तो उसके सभी पुत्र उत्तराधिकार पाने के लिये संघर्षरत हो गये। मुख्य संघर्ष दारा व औरंगजेब के मध्य था। इस युद्ध में आमेर के हिन्दू राजा जयसिंह की सहानुभूति प्रारम्भ से ही हिन्दू विरोधी औरंगजेब के साथ थी। हालांकि जयसिंह ने दारा की ओर से उसके पुत्र सुलेमान शिकोह के साथ बनारस के पास शुजा को युद्ध में पराजित किया था। बनारस से आगरा लौटते हुये उसने अपने मित्र व सेना के दूसरे सेनापति दिलेर खाँ से सलाह करने के बाद ऐसा माहौल बनाया कि विजयी सेना सुलेमान शिकोह का साथ छोड़ गयी है। जयसिंह ने जाकर दारा शिकोह के पुत्र सुलेमान को समझाया कि अब सेना आपके साथ नहीं है और आपको अपने सरदार दिलेर खाँ, दाऊद खाँ पर विश्वास नहीं करना चाहिए, यदि आपने अपने पिता (दारा शिकोह) की मदद करने की कोशिश की तो आप दुर्दशा में पड़ जायेंगे। बेहतर होगा कि आप गढ़वाल की ओर भाग जायें।

सुलेमान शिकोह वीर व साहसी होने के बाबजूद दुनियादारी से अनभिज्ञ था। जयसिंह की सलाह मानकर वह श्रीनगर (गढ़वाल) के राजा की शरण में पहुँच गया। उसके जाने से पहले जयसिंह व दिलेर खाँ ने उसका बहुत सा माल खुद रख लिया। इस तरह दारा अपने पुत्र की सहायता से वंचित हो गया, एक प्रकार से उसका दाहिना हाथ ही टूट गया।

बाद में जयसिंह ने ही श्रीनगर के राजा को इस आशय का पत्र भेजा कि यदि आप सुलेमान शिकोह को पकड़ कर औरंगजेब के पास भेज देंगे तो आपको बड़े-बड़े इनाम मिलेंगे वरना आप बहुत हानि उठायेंगे। राजा शुरू में नहीं माना परन्तु बाद में उसने सुलेमान शिकोह को औरंगजेब के लोगों के हाथ में सौप दिया। औरंगजेब ने सुलेमान शिकोह को ग्वालियर के किले में बन्दी रखने का आदेश दिया और वहीं उसे पोस्त का पानी (अफीम मिश्रित) पिलाया जाने लगा, जिससे कुछ ही समय में उस की मृत्यु हो गई।

खजुआ के युद्ध में औरंगजेब की सेना में सम्मिलित जोधपुर के राजा जसवन्त सिंह ने मुकाबले पर खड़े शाहजादे शुजा से अन्दरूनी गठबन्धन कर रखा था। उसने मध्य रात्रि को औरंगजेब की सेना खजाने को लूटकर जोधपुर की ओर प्रस्थान कर दिया जिससे औरंगजेब अत्यधिक क्रोधिक हुआ। उधर औरंगजेब के भय से भागते हुए दारा ने जब जसवन्त सिंह से सहायता माँगी तो पासा पलटने की आंशका से जय सिंह पुनः बीच में आ गया। उसने जसवन्त सिंह से दारा की मदद ना करने को कहा और वचन दिया कि इसके बदले में वह उसे औरंगजेब से गुजरात की सूबेदारी दिलवा देगा और औरंगजेब जसवन्त सिंह से वह धन भी नहीं मांगेगा

जो उसने खजुआ के युद्ध में लूट लिया था। जसवन्त सिंह प्रलोभन में आ गया, उसने दारा को मदद देने से इन्कार कर दिया। इससे दारा का पतन पूर्णतः सुनिश्चित हो गया।

इस प्रकार जयसिंह ने उत्तराधिकार के युद्ध में कदम-कदम पर बादशाह शाहजहाँ और उसके प्रिय पात्र दारा का विरोध किया। जयसिंह ने शुरू में गुप्त रूप से तथा बाद में खुलेआम औरंगजेब का साथ दिया।

अब प्रश्न उठता है कि जयसिंह ने इस संघर्ष में हिन्दू विरोधी औरंगजेब का साथ क्यों दिया? जयसिंह का दारा से कोई व्यक्तिगत विरोध नहीं था। वस्तुतः वह शाहजहाँ द्वारा अपनी बेगम मुमताज के मकबरे हेतु अपने भव्य महल (जिसे आज कल ताजमहल कहा जाता है) को हस्तगत कर लिये जाने के कारण भारी रुष्ट था और बादशाह से गहरी रंजिश रखने लगा था। शाहजहाँ को ताजमहल में कुरान की आयतें उत्कीर्ण करवाने के हेतु सगंमरमर की जरूरत थी। उसने इस संबंध में जो फरमान जयसिंह को भेजे थे, उनमें धमकी थी। इसने जले पर नमक का काम किया। जयसिंह की मदद व सांठ-गांठ के कारण ही औरंगजेब गद्दी पर बैठा तथा शाहजहाँ को बन्दी बनना पड़ा। इस प्रकार राजा जयसिंह ने अपने महल छीने जाने का शाहजहाँ से बदला ले लिया।

यह बात अलग है कि राजा जयसिंह की इस प्रतिशोध की भावना से हिन्दू धर्म को भयंकर क्षति पहुंची।

राजकिशोर शर्मा 'राजे'
126, नारायण बिहार, सिकन्दरा
आगरा-282007 (उ. प्र.), मो.-9808789759

खुश रहने का नुस्खा

हमारी प्रसन्नता हेतु चार हारमोन आवश्यक होते हैं।

1. ऐन्ड्रोफिन्सः जब हम व्यायाम करते हैं तब शरीर से ऐन्ड्रोफिन्स का स्त्राव होता है, जिसके कारण हम व्यायाम करते हुए प्रसन्न हो जाते हैं। ठहाके मारकर हंसने से भी इस हारमोन की उत्पत्ति होती है। हमें दैनिक 30 मिनट व्यायाम करना चाहिए एवं हँसना चाहिए।

2. डोपामाइनः जब जीवन के सफर में हम छोटी-छोटी ही सही, कामयाबी पा लेते हैं तब विभिन्न स्तर पर डोपामाइन का स्त्राव होता है, इसी प्रकार घर अथवा कार्यालय में जब हमें सराहना मिलती है, उस समय भी यह हारमोन स्त्रावित होता है और हमें अच्छा लगता है। गृहणियों के अप्रसन्न रहने का एक कारण यह भी है कि उनके द्वारा किये गये कार्यों की सराहना नहीं की जाती है। जब हम अपने लिये कार अथवा नया घर, सामान खरीदते हैं तो हमारी प्रसन्नता का कारण ये है हारमोन ही।

3. सैरोटोनिनः जब हम कोई कार्य इस प्रकार का करते हैं, जिससे किसी का भला या लाभ होता है, प्रकृति अथवा समाज हेतु कुछ अच्छा करते हैं, हम प्रसन्न हो जाते हैं, तब इसी हारमोन का स्त्राव होता है।

4. औक्सीटोसिनः जब हम प्रेमवश किसी के गले लगते हैं, हाथ मिलाते हैं अथवा उसके कन्धों को अपनी बाहों से घेरते हैं, उस समय विभिन्न मात्रा में हारमोन औक्सीटोनिन का स्त्राव होता है। इस प्रकार हम अपनी समस्याओं एवं चुनौतियों से भली-भाँति निबट सकते हैं।

बच्चों के हित में हमें यह करना चाहिए--

1. उन्हें मैदान पर खेलने हेतु प्रेरित करें। 2. उनकी हर छोटी एवं बड़ी सफलता पर बड़ाई करें। 3. उनमें दूसरों के साथ अपनी वस्तुओं को साझा करने का गुण उत्पन्न करें। 4. अपने बच्चों को अपनी बाँहों में ले गले लगावें।

जितेन्द्रनाथ जौहरी
ई- 234, सैक्टर-14, हिरणमगरी
उदयपुर-313002 (राजस्थान)
मो. - 8003188087

●

प्रतिस्वर

वैचारिकी के जनवरी-फरवरी 2019 अंक में 'विचार' अंतर्गत **संपादकीय** सोच के रूप में **'एक विस्थापन दिवस'** पर टिप्पणी पढ़ी तो मैं चकित और विस्मित हुआ। ताज्जुब इस बात पर हुई कि ब्रिटिश सत्ता से सत्ता पाकर लगभग सात दशक तक हम सत्ता चलाने का ढ़ोंग ही रच रहे थे। विस्थापन की कहानी सत्ता की सत्ताविहीन अवस्था की अंतर्कथा बताती है। विस्थापन के 29 साल पूरे होने पर कश्मीरी पंडित विस्थापन दिवस मनाकर हक, अधिकार और संतति की सुरक्षा और भविष्य की भीख मांग रहे हैं, इससे बड़ी शर्म की बात इस मुल्क के लिए और कोई नहीं हो सकती है। क्या देश की सर्वोच्च अदालत, संसद और कानून-व्यवस्था की सक्रियता तथा सजगता व राजनीतिक दल के नेतृत्व, धर्म के ठेकेदारों के लिए ही केवल सबल और स्वच्छ है?

एक तरफ इसी धरती में जन्में विश्व-ज्ञानी स्वामी विवेकानन्द ने कहा था, 'So long as millions live in povenry and ignorance, I hold everyone as trailtor.' तो दूसरी तरफ धार्मिक तथा जात-पात के उन्माद पर 1984 में सिखों की हत्या और कश्मीरी पंडितों पर खुले आम हमला तथा विस्थापना की नृशंस घटना होती है।

ब्रिटिश हुकूमत से देश को स्वाधीन करने का गौरव-गान और गरिमा-कथा सुनाकर सत्ता-सुख भोग रही राष्ट्रीय कॉग्रेस क्या सुसुप्त थी कि अचेत थी, यह बहुत बड़ा सवाल है, जिसका जवाब सिखों और कश्मीरी पंडितों को देना बाकी ही है। किस परिस्थिति में कश्मीरी पंडितों के तीन लाख लोगों को अपना घर-बार छोड़कर अपने ही देश में विस्थापित होना पड़ा होगा, सोचने-समझने की बात है। दीन-दुखी, दलित-शोषित, सर्वहारा के पक्ष में ठोस दलीलें पेश करके राजनीति करने वाले साम्यवादी चिंतक क्या गुफा में घुसे थे? राष्ट्र-हित के पक्ष में लंबे-चौड़े मतादर्श रखकर राजनीति की रोटियां सेंकने वाली राजनीतिक पार्टियाँ क्यों निष्पक्ष नहीं हो सकी? हिन्दुवादी संगठनों के कर्मठ विचारक भी क्या सत्ता-सुख का राजमार्ग गढ़ने में ही तल्लीन थे? वामपंथी विचार के दिग्गजों ने कश्मीरी पंडितों पर हुए अनाचार तथा अत्याचार पर आवाज क्यों बुलंद नहीं की? लगता है, सबके सब मुस्लिम अलगाववादी शक्ति के आगे संपूर्ण समर्पित हो गए थे।

कश्मीरी पंडितों के परिवारों को जिस प्रकार से यंत्रणा देकर विस्थापित किया गया, मर्दों को खदेड़कर बेटी-बहनों को सुख के लिए रखा गया, संपूर्ण विवरणों से विज्ञ मीडिया के धर्मनिरपेक्ष पत्रकार भी अनभिज्ञ रहे, यही सबसे बड़ी दुःख और शर्म की बात है।

यह बहुत बड़ी विडम्बना की बात है कि जब 1990 में कश्मीरी पंडितों को प्रताड़ित किया जा रहा था, उनकी संपत्ति पर कब्जा किया जा रहा था, उनकी बहु-बेटियों पर सामूहिक अत्याचार हो

रहे थे तो क्या सर्वोच्च अदालत तक के दरवाजे बंद थे, न्यायविद और वरिष्ठ प्रशासक नींद की गोली खाकर सोये पड़े थे? या मुस्लिम अलगाववादी शक्ति के आगे झुकने के लिए विवश थे?

'19 जनवरी 1990 को सैकड़ों सशस्त्र मुस्लिम आतंकवादी सड़कों पर उतर आये और कश्मीर के अल्पसंख्यक हिन्दु समुदाय (कश्मीरी पंडितों) के विरुद्ध नारेबाजी करने लगे....' आपने सच की शुरुआती बातें लिखने की हिम्मत की, पर आगे क्या-क्या हुआ, अगर हम वर्णन करने लगेंगे तो सबकी रुह कांप जाएगी। तब राज्य सरकार हमलावरों की तरफदार हो गई थी, इसलिए कोई भी कार्यवाही नहीं किया गया। आज देश-द्रोह के कानून हटाने को दृढ़ता से ले रहे राज नेतागण तब आतंकवादी हमलावरों के समर्थक ही थे, यह बात आज स्पष्ट होती है, रहस्य का पर्दाफाश हो रहा है।

धर्मनिरपेक्षता की दुहाई देकर गंगा-जमुनी तहजीब पर जोर देने वाले ज्ञानी-गुणी सामाजिक कार्यकर्त्ताओं के विवेक पर भी तब ताले लगे थे या वंशवादी सत्ता के विस्तार में विवेक का इस्तेमाल कर रहे थे। देश और तत्कालीन सत्ता के इतिहास में इससे बड़ा काला धब्बा और कुछ नहीं हो सकता।

कश्मीरी पंडितों के लिए शरणार्थी शिविर लगाकर सिर ऊँचा करने वाली धर्मनिरपेक्ष सरकारों की बदनीयति के और मिशाल नहीं हो सकते हैं। अफसोस की बात यह है कि आज भी कश्मीरी पंडितों के परिवार शिविरों में जीवन गुजार रहे हैं और हम कुछ नहीं कर पा रहे हैं। मुझे लगता है, आतंकवादी शक्ति देश के भीतर ज्यादा ताकतवर है, जिसके कारण प्रताड़ित परिवारों को आज भी न्याय नहीं मिल रहा है।

धर्मनिरपेक्षता की हद तो तब पार हुई, जब 1984 में मारे गए सिखों की हत्या की घटना पर 'हुआ तो हुआ' कहकर पल्ला झाड़ने वाले शुभ चिंतक हैं जो सत्ता को कब्जा करने में संघर्षरत नेता को ज्ञान बांटने आये हैं।

आप के विचार के साथ सहमत होकर अपने विचार रखने की हिम्मत की मैंने भी, जो मुझे लगता है सबको करना चाहिए।

(अब स्थितियाँ बदल रही हैं और आशा की जानी चाहिए कि धारा 370 और 35ए हटने के बाद उन्हें उनको हक मिलेगा।- संपादक)

वैचारिकी का जनवरी-फरवरी 2021 अंक कोरोना के कारण ही देर से पहुँचा। हाथ में आते-आते विषाणु के कहर की दूसरी लहर आ चुकी और सारे राज्य में 'लॉकडाउन' का आदेश बेमौसम के बादल की तरह छा गया। विचार में संपादक महोदय ने गत 10-11 महीने में कोरोना की वैश्विक महामारी से अथक संघर्ष के बदौलत मुक्ति पाने की उम्मीद जताई थी और कोविड19 से निजात पाने की दिशा में वैक्सीन की उपलब्धि की खुशी भी जाहिर की थी, पर अदृश्य कोरोना ने सारे देश को अपने प्रभुत्व और कृतित्व का दृश्य रूप दिखाया दूसरी लहर के रूप में, और अब तबाही मच रही है। जनजीवन अव्यवस्थित, पठन-पाठन स्थगित और विघ्नित हो गया है और लोग कालकवलित हो रहे हैं ।

ऐसी परिस्थिति में वैचारिकी का द्वार तक पहुँचना ताज्जुबभरी खुशी की बात है। इस अंक में प्रकाशित सभी आलेख शोधपरक हैं, इसलिए गहन ज्ञान और जीवंत जानकारियों से परिपूर्ण हैं। लेखिका निशा भारद्वाज ने अपने आलेख में राठौड़ राजाओं के विश्वास और दस्तूर से परिचित कराया और शकुन परंपरा का अनुशरण करके सूखे में अकालग्रस्त लोगों की समस्याओं के समाधान में राजाओं द्वारा उठाए गये कार्य की भी जानकारी दी। इसी तरह डॉ. विद्यानंद ब्रम्हचारी के आलेख में पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की कीर्तिगाथाओं के साथ सामाजिक सेवामूलक और विद्वत्तापूर्ण कार्य तथा धार्मिक साधना की अतिरिक्त जानकारियां भी दी हैं। डॉ. अन्जानेयूलु के आलेख में तेलुगु कवयित्री मोल्ला और मीरा बाई के योगदान का तुलनात्मक अध्ययन और विश्लेषण मिला जो पाठकों के लिए बड़ी उपलब्धि है। सांदर्भिक होने की वजह से यहाँ यह बताना मुनासिब समझता हूँ कि दार्जिलिंग में भी आंजलि देवी नाम की एक कृष्णभक्त विदुषी का जन्म हुआ था जिन्होंने विवाहबन्धन से मुक्त रहकर जीवन भर कृष्णभक्ति में जीवन गुजारा और भजनों की रचना की। यहाँ की कई पत्र-पत्रिकाओं में उनकी चर्चा हुई थी और मैंने भी शोध करके रचना लिखी थी। व्यापक प्रचार नहीं हो पाया है।

पत्रिका की निरन्तरता की कामना करता हूँ।

बिर्ख खड़का डुवर्सेली,
आम खडकालय, दुर्गागढी, प्रधानगर,
दार्जिलिंग-734003
मो. 9749052857

'वैचारिकी' का जनवरी-फरवरी 19 अंक मिला। धन्यवाद। उसमें **डॉ. सेराजखान** का लेख **'इस्लाम मुसलमान वर्तमान में'** देखा। उन्होंने प्राचीन और आर्वाचीन मुसलमानों में तुलनात्मक, परिवर्तित-अपेक्षित अवधारणाओं का चित्रण प्रस्तुत किया है। इस लेख के समापन में पुस्तकों और शरीयत के असंतुलित अध्यायों को समय के द्वारा संशोधित होने का विश्वास व्यक्त किया है। प्रतीत होता है कि लेखक ने रुहानियत (अध्यात्म) की महत्ता के प्रति समग्र रूप से मौन रखा है। इस्लाम के पालन, प्रचार और प्रसार (धर्म परिवर्तन प्रक्रिया सहित) में रुहानियत की महत्ता का सूफियों के माध्यम से योगदान होता रहा है। भारतीय उपमहाद्वीप में हिन्दू भी मुसलमान सूफी दरबारों में श्रद्धा पूर्वक जाते हैं। इस्लाम के विश्व केन्द्र काबा (मक्का, सउदी अरब) में सदियों पहले गुरु नानकदेवजी के द्वारा यात्रा करने के उपरांत हिंदू-सिखों का वहां प्रवेश आदिनांक वर्जित कर दिया गया है। ऐसा क्यों है? क्या इस प्रवेश प्रतिबंध को उठाकर मुक्त करने से इस्लाम में अपेक्षित परिवर्तनों को सुगम बनाने में सहायता नहीं मिलेगी? क्या इसके आकलन-अध्ययन हेतु सूफीमत के इस्लाम में प्रवेश के कारणों को पुनः समय की तुला में नहीं तोला जाना चाहिए?

वीरेन्द्र नाथ भार्गव
12, महावीर नगर, टोंक रोड,
जयपुर-302018

जनवरी-फरवरी 2019 की वैचारिकी में **डॉ. सेराजखान बातिश** का समीक्षात्मक प्रेरणाप्रद लेख पढ़ने को मिला। इसमें समाज विशेष के लिए उनकी दशा और दिशा की ओर ध्यान दिलाते हुये जो स्पष्ट शब्दों में टिप्पणी की गई है, प्रशंसनीय है। इसी प्रकार का हिन्दू समाज के लिए 'कुम्भ' के माध्यम से प्रेरणाप्रद 'विचार' नामक **सम्पादकीय** लिखा गया है। ऐसे विचारोत्तेजक आलेख दिग्भ्रमित समाज को सही मार्ग दिखा कर लोकमंगल की सृष्टि करने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार के प्रेरणाप्रदाता भी पीर-पैगम्बर, संत-सुजनों से बढ़कर होते हैं।

ज्योतिष और वैद्यक (आयुर्वेद) सदैव फलप्रद होते हैं। अन्य शास्त्र केवल मनोविनोद के लिए होते हैं जबकि चिकित्सा विज्ञान और ज्योतिष दोनों दुःखों के निवारण के उपाय बतलाते हैं। संस्कृत की एक सूक्ति है-

सद्यः फलति गांधर्व, मासमेकं पुराणकम्।
वेदाः फलन्ति कालेषु, ज्योतिर्वैद्यो निरन्तरम्।।

ज्योतिष एवं चिकित्सा विज्ञान दोनों विषयों पर महत्वपूर्ण लेख इस अंक में पढ़ने को मिले हैं।ज्योतिष जहाँ अपने पाँच अंगों के द्वारा कष्ट निवारण के उपाय निर्देशित करता है वहां चिकित्सा विज्ञान की भारतीय परम्परा (आयुर्वेद) अपने आठ अंगों के द्वारा स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा करता है और रोगियों के रोगों को दूर करने के उपाय प्रदर्शित करता है। मुख्य रूप से कायचिकित्सा नामक अंग विशेष पर लिखे गये चरक-संहिता ग्रंथ की विशेषता, डॉ. क्लार्क के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त की गई है-- 'यदि आप अपने रोगियों की चिकित्सा चरक के सिद्धान्तों के अनुसार करेंगे तो चिता बनाने अर्थात् अंत्येष्टि कार्य में कमी आयेगी और संसार में रोगी मनुष्य बहुत कम देखने में आयेंगे।'

गोपीनाथ पारीक 'गोपेश'
21, रामेश्वरधाम, मुरलीपुरा स्कीम
जयपुर-302039

जनवरी-फरवरी 2019 के अंक में **इस्लाम-मुसलमान वर्तमान में** लेख व अन्य अंकों में भी मुसलमानों को लेकर लेख प्रकट हुए हैं। भारत में हम जिस समुदाय को मुसलमान कहते हैं, वह भी एक विविध वर्गीय समाज है। भारत में 584 ऐसे समुदाय हैं जिनका मजहब इस्लाम है। ये समुदाय भारत में पूरे देश में फैले हैं और इनका रहन-सहन, पहनावा, खान-पान, बोली एक जैसी नहीं है। जीववैज्ञानिक, भाषायी और

संस्कृतिक परिदृश्य में ये समुदाय अपनी बसावट के अन्य धर्मावलंबियों के समान हैं। ये समुदाय पूरे देश में फैले हैं- मैदानी/पहाड़ी भागों में, क्षेत्रों में, समुद्री किनारों पर, अर्ध शुष्क क्षेत्रों में, रेगिस्तानी भागों में आदि। भाषायी दृष्टि से ये 52 भाषायें बोलते हैं। भारत में अरबी इसके केवल एक समुदाय द्वारा बोली जाती है। उर्दू केवल 156 समुदायों द्वारा बोली जाती है और लोग फारसी लिपि से बहुत परिचित नहीं है। बच्चे तो अब फर्राटेदार स्थानीय भाषा बोलते हैं। 53 समुदाय अभी भी वर्ण व्यवस्था में अपने पूर्वजों का स्मरण रखे हुए हैं। 11 समुदाय पूर्णतः शाकाहारी हैं। 7 समुदाय केवल मछली खाते हैं। 9 समुदाय केवल अण्डा खाते हैं। 5 समुदाय अदरक भी नहीं खाते हैं। 5 समुदाय प्याज भी नहीं खाते हैं। 4 समुदाय मसूर दाल नहीं खाते हैं। प्रायः मुस्लिम स्त्रियाँ मांस नहीं खाती हैं। कई घरों में मांस पकाने का बर्तन अलग होता है। अनेक मुस्लिम समुदाय गौ मांस नहीं खाते हैं। राजस्थान के कुल 44 मुस्लिम समुदायों में 31 समुदाय गौ मांस नहीं खाते हैं।

व्यवसाय की दृष्टि से ये सभी प्रकार के काम करते हैं- बुनकर, राजगिरी, बढ़ईगिरी, सुनारी, टोकरी बनाना आदि। खाल निकालने का काम केवल 0.16 प्रतिशत करते हैं। अनेक समुदायों में धर्मान्तरण से पूर्व के संस्कार आज भी मौजूद हैं। अनेक मुस्लिम महिलायें चूड़ियाँ पहनती हैं, बिछुवा, मंगलसूत्र, बिंदी आदि से अनेक मुस्लिम महिलायें अपने को विवाहित होने की पहचान बताती है। अभी हाल तक मुजफ्फरनगर में जहां मैं प्रधान रहा हूँ और वहां के सामाजिक जीवन का शास्त्रीय अध्ययन किया है, जाटों और मुसलमानों की एक जैसी परंपरायें हैं और सामाजिक रीति-रिवाज भी एक जैसे हैं। दोनों में सगोत्र विवाह पर प्रतिबंध है। आन्ध्रप्रदेश के मुस्लिम समुदाय अरेकतिका में आज भी जीवन पर्यन्त होने वाले अनेक पूर्व कर्म मौजूद हैं। ये कर्मकांड गर्भाधान, जन्म, मृत्यु, रजस्वला होने व विवाह आदि से संबंधित हैं। बच्चे के जन्म पर छठ का प्रावधान है और प्रसूता को हल्दी के पानी से नहलाया जाता है। अन्नप्राशन के समय एक पुरोहित को बुलाया जाता है। इस समुदाय में विवाह के समय कुलदेवी भवानी का अवाहन किया जाता है। राजस्थान में मुस्लिम समुदाय-कायमखानी, भटियारा, मेवो, चूगर हिन्दू और मुस्लिम दोनों के रीति-रिवाज मानते हैं। इसी प्रकार चीता, छीपी, नीलगर, भटियारा, मेरात आदि मुस्लिम समुदाय यद्यपि मुस्लिम धर्म को मानते हैं परन्तु विवाह कुल के बाहर करते हैं और शादी हिन्दू-मुस्लिम दोनों तरीकों से होती है। उत्तराखंड के मुसलमान गढ़वाली बोलते हैं और उनपर हनुमान जी का रूप आता है। अनेक मुस्लिम समुदायों में मृत्यु पर सूतक के अपने तरीके हैं। बच्चे के जन्म पर छठ, सवा महिने पर उत्सव और बाल उतरवाने जैसे रीति-रिवाज अब भी शेष हैं।

रसल और हीरालाल की प्रसिद्ध किताब (The Tribes and castes of central pravinses) के खंड तीन में वर्णित है कि खोजा इस्लाम धर्म में परिवर्तित होने के बाद आज भी अपने पूर्व संस्कारों को मानते हैं। इस समुदाय के लड़के कानों का छेदन कराते हैं और मुंडन में सिर पर चोटी जैसे बाल छोड़ देते हैं। दाढ़ी रखने की भी सख्ती नहीं है। विवाह, मृत्यु और चांद के दिन पर ये दान देते हैं। गुजरात के मुसलमान कच्छी और गुजराती बोतले है और गुजराती लिपि का ही प्रयोग करते हैं। शिया, सुन्नी, अहमदिया, खोजा आदि भेदों के अलावा भारत में मुसलमान अशरफ (श्रेष्ठी वर्ग) अजलाफ (कारीगर वर्ग) और अरजल (अपवित्र काम करने वाली) बिरादरियों में बँटें हैं। इन्हें क्रमशः हिन्दुओं के उच्चजाति (सवर्ण), ओबीसी और दलितों के समकक्ष कहा जाता है। इम्तिहाज अहमद ने अपनी किताब (The Ashrof and Ajlaf dicotomy in muslim social structure in India) में इस पर विस्तार से लिखा है। जरीना अहमद की किताब (Muslim customs in Uttar Pradesh 1972) में बतलाया गया है कि प्रायः यह धारणा है कि अशरफ बाहर से आये मुसलमान हैं परन्तु भारत में भी बहुत से मुस्लिम समुदाय इस श्रेणी में आने के लिए अपने पूर्वज विदेशी बतलाते हैं। यथा, पूर्वी उत्तर प्रदेश के जुलाहे अपने को अन्सारी शेख कहते हैं और अपने पूर्वज अबू अन्सार को बतलाते हैं जो मोहम्मद साहब के साथी थे। इसी प्रकार कसाई अपने को कुरैशी शेख बतलाते हैं और अपने पूर्वजों में अबू

बर्क सिद्दिकी को गिनाते हैं जो मोहम्मद साहब के ससुर के साथी थे। कुछ समुदाय अपने को अशरफ श्रेणी में लाने के लिए अपनी स्त्रियों को पर्दे में रखते हैं, मस्जिद में जाकर नियमित नमाज अदा करते हैं और मक्का की यात्रा करके हाजी बनते हैं। इन्होंने अपने जातीय उपनाम भी बदल दिये हैं। भारत के उत्तरी कोंकण में आठवीं सदी में फारस से आये सुन्नी मुस्लमानों को 'नेवायत' कहा जाता है। कोंकणी मुसलमानों ने स्थानीय स्तर पर विवाह सम्बन्ध बनाये और अंग्रेजों के विपरीत भारतीय भाषा, भूषा, भोजन, भवन, भजन आदि को अपनाया। ए.आर. कुलकर्णी ने अपनी किताब (We Live To gether) के अध्याय (Social Relation in medieval Maharastra) में बताया है कि मध्यकालीन मुस्लिम सन्त शाह मुनि की मान्यता थी कि इस्लाम धर्म की उत्पत्ति हिन्दू देवता विष्णु से हुई है। इसी प्रकार (A.K. Piyalkar French Kakine Lihiteli Marathi Puran (Mumbai 1965) के अनुसार सन् 1435 के आस-पास बहमनी साम्राज्य के बादशाह अलाउद्दीन (द्वितीय) ने काज़ियों को फटकारा कि वे उन हिन्दूओं की आलोचना करते थे जो गौ, अग्नि, जल, सूर्य, पृथ्वी और आकाश में ईश्वर का वास मानते हैं। शिवाजी चरित्र (भारतीय इतिहास संशोधन मंडल पुणे खंड 6, अभिलेख 65) के अनुसार परिवार में यदि एक भाई ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया तो भी वे संयुक्त परिवार में ही रहते हैं और विवाह व अन्य समारोहों में सब भाग लेते हैं।

भारतीय परिदृश्य में हिन्दू-मुसलमानों के रिश्तों को देखने का नज़रिया तथ्यों पर आधारित होना चाहिए। भारत में पिछड़े मुसलमान कुल मुस्लिम आबादी के 90 प्रतिशत हैं और उनकी सामाजिक स्थिति दयनीय है। केन्द्र व राज्यों में यद्यपि मुसलमान प्रतिनिधि हैं परन्तु पिछड़े मुसलमान न के बराबर हैं। पहली से लेकर चौदहवीं लोकसभा तक केवल पाँच पिछड़े मुसलमान सदन के सदस्य बन पाये थे।

वास्तव में सांप्रदायिकतावादी यह नहीं समझते कि किसी धर्म-संप्रदाय में आस्था नितान्त व्यक्तिगत मामला है। विश्वभर के मुसलमान धार्मिक आस्था में एक हो सकते हैं परतु अपनी जातीय पहचान में वे स्थानीय हैं। यह आस्थानीयता प्रायः उनके सामाजिक और सांस्कृतिक सरोकारों को तय करती है। तभी तो बंग्लादेश का कथा नायक अपनी प्रेमिका से कहता है कि उन दोनों का संबंध जन्म-जन्मन्तर का है। इस दृष्टि से भारतीय उपमहाद्वीप के मुसलमान विश्व के अन्य भू-भागों के मुसलमानों से भिन्न हैं।

डॉ. लक्ष्मी नारायण मित्तल
पूर्व प्राचार्य व ख्यातिप्राप्त समाज शास्त्री
एच/ 902, ओल्ड हाउसिंग बोर्ड कॉलोनि
मुरैना-476001

जनवरी-फरवरी 2019 अंक में भगवान अटलानी का लेख 'सिन्धी उपन्यास : एक विवेचन' और गीता दुबे का लेख 'बांग्ला की स्त्री आत्म-कथाएँ' भारत की सीमाओं से परे जाकर सिन्ध में लिखे गए सिन्धी उपन्यासों और बांग्लादेश में लिखी गई आत्मकथाओं की भी चर्चा करते हैं। दोनों ही लेख अखंड भारत का सन्देश देते हैं। यों तो सभी लेखों में लेखकों की सारस्वत प्रतिभा प्रभावित करती है, उनके श्रम को उजागर करती है और सभी अपने शीर्षक के विषय में पाठक को विस्तृत ज्ञान देते हैं-- ज्योतिष इतिहास, आयुर्वेद आदि का समावेश करते हैं परन्तु डॉ. सेराज खान बातिश का लेख संक्षिप्त कलेवर में इस्लाम के इतिहास की झांकी प्रस्तुत करते हुए आज के इस्लाम की भारतीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को यथार्थ रूप में सामने लाता है। यह लेख ध्वनित रूप में हमारे मस्तिष्क में हिन्दू धर्म की भी इसी प्रकार की स्थिति भी अनुगुँज उपस्थित करता है और साथ ही भारत के सन्दर्भ में हमारे सामने यह प्रश्न भी उठाता है कि भारत का आज का मुसलमान क्या कट्टरता के साथ इस्लाम की किसी अन्तर्राष्ट्रीय कल्पना से जुड़ा है? जब पाकिस्तान का मुसलमान अफगानिस्तान के मुसलमान से और ईरान का मुसलमान ईराक के मुसलमान से राष्ट्रीयता के आधार पर लड़ सकता है तो भारत का मुसलमान 'इस्लाम खतरे में है' के अन्तर्राष्ट्रीय नारे को छोड़कर भारत के लिये क्यों नहीं लड़ सकता।

1947 के भारतीय मुसलमान का श्रद्धा केन्द्र पाकिस्तान था परन्तु उसकी निष्ठा को पहला झटका बंग्लादेश बनने से लगा और उसके बाद आतंकवाद को लेकर पाकिस्तान की जो छीछालेदर हुई, उसके कारण आज भारतीय मुसलमान की मानसिक स्थिति 1947 के मुसलमान की स्थिति से भिन्न है। आज उसकी समझ में यह आ गया है कि उसके लिए भारत से अधिक सुरक्षित कोई देश नहीं है और उसे इसी देश की मिट्टी पर रहना है, उसकी निष्ठाएँ इस मिट्टी से जुड़ने लगी है। महात्मा गांधी से लेकर अब तक जो प्रयास हुए हैं उनमें पहल हिन्दुओं की ओर से रही है। सामाजिक स्तर पर मुसलमानों की ओर से ऐसी किसी बड़ी पहल का कोई प्रयास किया हो ऐसा उदाहरण नहीं मिलता। डॉ. बातिश का यह लेख यह संदेश देता है कि भारत के मुसलमान को भारत के प्रति अपनी निष्ठाओं को मजबूत करते हुए अपनी आर्थिक सामाजिक और शैक्षणिक स्थितियों की चिन्ता करनी चाहिए और किसी भी प्रकार की कट्टारता से बचना चाहिए जो देश भक्ति के स्थान पर इस्लाम की छद्म वैश्विक कल्पना से पैदा होती है। कुछ-कुछ ऐसा हो भी रहा है परन्तु यह काम राजनैतिक स्तर पर संभव नहीं है, ऐसा सहज सामाजिक मिलन से ही हो सकता है जो एक धीमी प्रक्रिया है परन्तु अवश्य कोई अन्य मार्ग भी नहीं है।

डॉ. मथुरेश नन्दन कुलश्रेष्ठ (डी. लिट्.)
आनन्द-निकेतन, 75/70, टैगोर पथ, मानसरोवर,
जयपुर- 302 020, मो. 8764295011

वैचारिकी का जन.फर., 2021 का अंक प्राप्त हुआ। शोध-निबन्धों के अतिरिक्त इसमें ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, स्वामी विवेकानन्द, पन्नानरेश अमानसिंह, नेताजी सुभाषचंद्र बोस, राहुल सांकृत्यायन एवं गुरु गोविन्द सिंह जैसे महापुरुषों की नाराशंसी कथाएं पढ़ने को मिलीं। अमानसिंह का हेकड़ी स्वभाव तो अतुलनीय है। डॉ. अमरनाथ ने नेताजी के राष्ट्रभाषा प्रेम से अवगत कराने के साथ-साथ बेकन की शैली में संक्षेप में उनके समग्र जीवन पर प्रकाश डाल दिया।

निशा भारद्वाज ने राठौड़ राजाओं के शकुन और भविष्य सम्बन्धी जितने ग्रन्थों का सन्दर्भ दिया है, उन ग्रन्थों को कालकवलित होने से बचाने की आवश्यकता है। प्रमोद भार्गव ने प्रमाणों से पुष्ट किया है कि आर्य कहीं बाहर से नहीं आये थे। उनका यह कथन मानने योग्य है कि अब अंग्रेजों के लिखे इतिहास के बदलने का समय आ गया है।

सभी लेखक धन्यवाद के पात्र हैं किंतु सबसे अधिक धन्यवाद के पात्र विद्यानुरागी सम्माननीय डॉ. विठ्ठलदासजी मूंधड़ा हैं जिन्होंने इस करोना महामारी के विकराल काल में अध्येताओं के ज्ञानवर्धन के लिए वैचारिकी सुलभ बनाया।

डॉ. कमला प्रसाद द्विवेदी
38, पी. के. रायचौधुरी लेन
हावड़ा-711103
मो. -9123621718

कृष्ण को वंशी प्यारी क्यों ?

बांसुरी से पूछा– 'अरी बांसुरी! तुझ में ऐसी क्या खूबी है, जिसके कारण कान्हा तुम्हें इतना प्यार करते हैं। तू उनकी अधर शय्या पर बिराजती है। जिनकी पद-रज धारण करने के लिये बड़े-बड़े राजा-महाराजा ललचाते हैं और भक्त अपने को न्यौछावर किए हैं।'

बांसुरी–'मैं क्या जानूँ, मुझ में क्या खूबी है। मैं भीतर से पोली, थोथी, खाली और शून्य हूँ। मेरी यही निरीहता मेरी साधना है।' जब तक मैं है, गर्व है, पद का मद है– सिद्धि दूर है। स्वामी रामतीर्थ ने कहा– 'बांसुरी की तरह सिर से पांव तक खुदी से खाली हो जा, अन्यथा प्रेममूर्ति के लाल होठों का चूमना सहज नहीं है।'

स्वत्वाधिकारी भारतीय विद्या मन्दिर, कोलकाता के लिए सचिव शंकरलाल सोमानी द्वारा कल्याणी प्रिंटर्स, अलखसागर रोड, बीकानेर के लिए कंप्यूटर-एन-मीडिया, 25ए, सी.आर. एवेन्यू, कोलकाता-72 में मुद्रित एवं भारतीय विद्या मंदिर से प्रकाशित। संपादक-डॉ. बाबूलाल शर्मा।